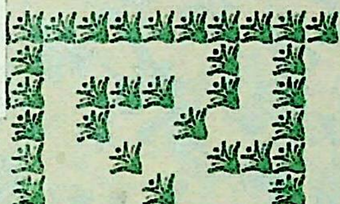
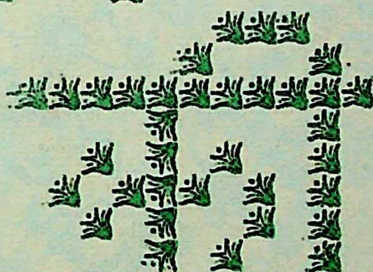
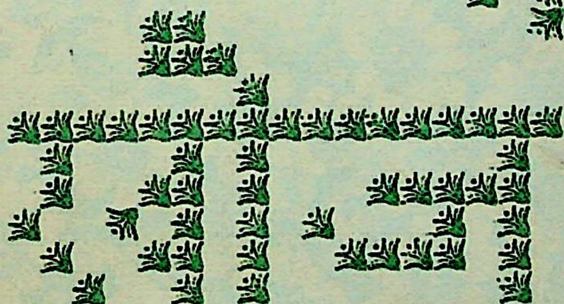
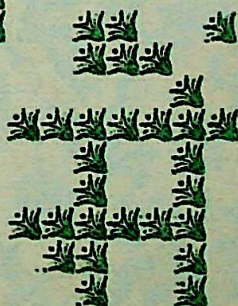










—डॉ. विष्णुकान्त वर्मा

"डॉ. विष्णुकान्त वर्मा की अभिनव कृति "चरम सत्य की खोज में" तुलनात्मक दार्शनिक समीक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अवदान है। आधुनिक युग के उन पाठकों को जो आप्त वाक्य को प्रमाण स्वीकार नहीं करते, इस कृति से सन्तोष होगा। डॉ. वर्मा की यह कृति ठोस गणितीय समीकरणात्मक तर्कशास्त्र को आधार बनाकर चली है और उसके सहारे प्राप्त निष्कर्षों की पुष्टि प्राचीन दार्शनिक उद्धरणों द्वारा की गयी है। विवेच्य विषय बहुत व्यापक है और उनमें दार्शनिक तत्त्वों संबंधी प्राय: सभी मानवीय जिज्ञासाओं का समावेश हो गया है। दर्शन, विशेषत: तत्सम्बन्धी भारतीय मान्यताओं को ठीक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने में यह कृति सर्वथा सफल है।"

मैं इस कृति और उसके प्रणेता का, जिसने गणित शास्त्री होते हुए भी दार्शनिक जगत में अपना स्थान बना लिया है, हृदय से अभिनंदन करता हूँ।

डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री
साहित्य वाचस्पति
भू. पू. उपकुलपति
जबलपुर विश्वविद्यालय

आदरणीया
विदुषी प्रज्ञा देवी जी
को
सप्रेम भेंट
विष्णुकान्त वर्मा
१३।१२।८६

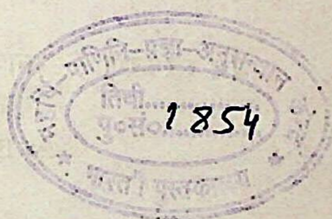




चरम सत्य की खोज में

(भारतीय दर्शन के गहनतम सिद्धान्तों की सरल, तर्कपूर्ण एवं सुबोध नवीनतम तात्त्विक मीमांसा)

⊙⊙



रचयिता—

डॉ. विष्णुकान्त वर्मा

एम. एस सी., एल एल. बी., पी एच. डो. (लखनऊ विश्वविद्यालय)
भू. पू. विभागाध्यक्ष गणित विभाग एवं प्र. प्राचार्य
शासकीय अभियांत्रिक महाविद्यालय
बिलासपुर (म. प्र.)

वैदिक प्रकाशन — प्रथम पुष्प

प्रथम संस्करण — भगवान श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
विक्रम संवत् २०४२
७ सितम्बर सन् १९८५

मूल्य : ३० रुपया

प्राप्ति स्थल — 'इन्द्रप्रस्थ' सीपत रोड, सरकंडा
बिलासपुर (म. प्र.)

मुद्रक—

वैदिक प्रिंटिंग प्रेस
सीपत रोड सरकंडा बिलासपुर (म. प्र.)

In Search of Ultimate Truth

(Simple, logical and easily understandable analytical presentation of the essential nature of reality in the deep principles of Hindu Philosophy.)

❀ ❀



By

Dr. Vishnukant Verma

M. Sc., LL. B., Ph. D. (Luck. Univ.)

Ex. Head of the Deptt. of Mathematics & off. Principal.
Govt. Engineering College, Bilaspur (M. P.)

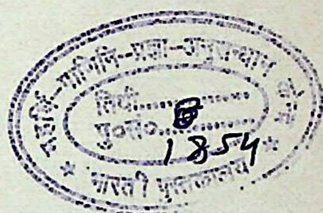
VEDIC PRAKASHAN—PRATHAM PUSHPA

First Edition - Published
On 7th September 1984
The birth day of Lord Krishna.
Vikram Samvat 2042.

Price - Rupees Thirty.

Available At - 'Indraprastha'
Sipat Road, Sarkanda
Bilaspur (M. P.)

Printers :
VEDIC PRINTING PRESS
Sipat Road, Sarkanda, Bilaspur (M. P.)



– समर्पण –

संसार की पृष्ठभूमि में निहित
चरम सत्य के दर्शन
के लिये
चिन्तनरत एवं अन्वेषक जिज्ञासुओं
के
प्रति
समर्पित

प्राक्कथन

अन्य प्राणियों से भिन्न मनुष्य का यह वैशिष्ट्य है कि जिस जगत में वह रहता है उसमें केवल अपनी आवश्यकताओं की तुष्टि से संतुष्ट नहीं होता अपितु उसके रहस्यों को जानने की उसमें एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है और इस जिज्ञासा की पूर्ति की दिशा में जब वह क्रियाशील होता है तब ज्ञानोदय की प्रक्रिया का प्रवर्तन होता है। ज्ञान की यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष से प्रारंभ होकर बौद्धिक चिंतन के विभिन्न सोपानों को पार करती हुई सत्य की अपरोक्षानुभूति में अपने चरम उत्कर्ष तथा पूर्णता को प्राप्त होती है। ज्ञान के विकास का क्रम वास्तव में मानवीय चेतना के विस्तार का द्योतक है। इसमें एक ओर जहाँ उसे प्रत्यक्ष की अवस्था में अपने चारों ओर पाये जाने वाले तथ्यों, वस्तुओं तथा घटनाओं का बोध होता है वहीं बुद्धि के स्तर पर तार्किकता के सशक्त माध्यम से वह जीवन तथा जगत की जटिल तथा सूक्ष्म समस्याओं एवं रहस्यों का समाधान प्राप्त करने का यत्न करता है। फलस्वरूप मानव भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों तथा नियमों की खोज और स्थापना के द्वारा अपने चिंतन को अधिक प्रोन्नत, सुबद्ध एवं सुसंगत बनाता है। किन्तु बौद्धिक ज्ञान की अपनी एक सीमा है और सत्य के अन्वेषण में जब हम बौद्धिक ज्ञान की सीमा के कारण द्वन्द्वों, विरोधाभासों तथा कठिनाइयों का अनुभव करते हैं तब उसका अतिक्रमण कर एक ऐसे समग्र ज्ञान की खोज करने में प्रवृत्त होते हैं जहाँ हमारी सारी अभीप्साओं, आकांक्षाओं तथा जिज्ञासाओं का हल प्राप्त हो सके। इसी क्रम में अन्तर्दृष्टि, अपरोक्षानुभूति तथा स्वानुभूति का बोध होता है जिनकी सशक्त तथा जीवन्त अभिव्यक्तियां वैदिक ऋषियों तथा अन्य मनीषियों की कृतियों में प्राप्त होती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारंभ ज्ञान के स्वरूप, उसके साधन विचार और सत्यासत्य की कसौटियों के अध्ययन–विश्लेषण तथा समीक्षा से प्रारंभ होता है तथा इसके उपरान्त इसमें द्रव्य तथा गुण मीमांसा के अन्तर्गत भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिको के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त है। सद् तथा असद् मीमांसा के सन्दर्भ में आधुनिक युग के महानतम वैज्ञानिक आइन्सटीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त से गौड़पाद के अद्वैत मत के तुलनात्मक अध्ययन से लेखक ने अद्वैत दर्शन की वैज्ञानिक दृष्टि को पुष्ट करने का एक अनुकरणीय प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में जगत के स्वरूप, कार्य-कारणवाद, सत्ता तथा प्रकृति के स्वरूप, साक्षी के अस्तित्व एवं स्वरूप तथा चेतना का उसकी अन्य वृत्तियों से भेद, चेतना के विभिन्न

स्तर जैसी जटिल तथा गूढ़ दार्शनिक समस्याओं का सांगोपांग निरूपण उपलब्ध है। इसी सन्दर्भ में कम्प्यूटर तथा चेतना का भेद एक रोचक अध्ययन प्रस्तुत करता है। आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म संबंधी विचारों का भी समुचित विवेचन किया गया है और काल के स्वरूप तथा उसके घटना-चक्र के विवेचन के उपरांत ईश्वर के अस्तित्व तथा जगत में उसके संबंध के साथ-साथ जगत की उत्पत्ति तथा विकास की समस्याओं का समावेश इस अध्ययन में किया गया है।

अन्त में निष्कर्ष के रूप में विद्वान् लेखक की यह स्थापना है कि एक सर्वव्यापी चेतन सत्ता अपनी दो शक्तियों सहित जगत का अनादि कारण है। मूल अविनाशिनी नित्य प्रकृति भौतिक जगत का उपादान कारण है। यह प्रकृति सर्वव्यापी चेतन सत्ता की अपरा शक्ति है—जीवात्माओं की समग्र सत्ता को पराशक्ति कहा गया है। ये दोनों शक्तियाँ मिलकर सर्वव्यापी चेतना की देह हैं। सर्वव्यापी चेतन सत्ता, दोनों परा एवं अपरा शक्ति का अधिष्ठाता है—स्वतंत्र इच्छाशक्ति, ज्ञान करने की शक्ति वाला होने से जीव कर्म करने में स्वतंत्र है तथा ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत फल भोगने में परतंत्र है।

मेरी दृष्टि से इस ग्रन्थ की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं : इसकी पहली विशेषता तो यह है कि इसमें वैज्ञानिक अभिवृत्ति तथा दार्शनिक चिंतन का एक सुन्दर समन्वय पाया जाता है, जो दार्शनिक चिंतन के सम्यक् विकास की एक आवश्यक शर्त है। इसकी दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें गूढ़ दार्शनिक समस्याओं का विवेचन कहीं-कहीं पर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन की तुलनात्मक दृष्टि से प्रश्नोत्तर पद्धति में किया गया है जिससे लेखक का गहन अध्ययन, समस्याओं की पकड़ और तलस्पर्शी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि पुष्ट होती है। यह ग्रन्थ लेखक के मौलिक चिंतन की अनुकृति है जिसके लिये वे साधुवादार्ह हैं।

मुझे विश्वास है कि दर्शन के अध्येताओं के लिये यह ग्रन्थ प्रेरणास्पद एवं उपयोगी होगा।

— डा० जगदीशप्रसाद शुक्ल
आचार्य एवं अध्यक्ष
दर्शन विभाग,
अधिष्ठाता कला संकाय
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
ज़बलपुर (म. प्र.)

प्रस्तावना

मानव बुद्धिमान् प्राणी है वह अन्य प्राणियों की तरह देह की आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसकी बुद्धि उसमें इस जगत को तथा स्वयं को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न करती है। मानव ने जबसे होश संभाला है उसकी जिज्ञासा उसे सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिये प्रेरित कर रही है। मैं कौन हूँ, यह जगत क्या है, इसके मूल में चरम सत्य क्या है, आदि प्रश्नों ने मानव को खोज को सदैव जारी रखा है। इसी खोज के परिणामस्वरूप अनेक विचार-धाराओं, धर्मों और दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है उसी तारतम्य में प्रस्तुत है 'चरम सत्य की खोज में' वर्तमान ग्रन्थ।

जगत के रहस्यों के ज्ञान के लिये जगत ने भारतीय मनीषियों की ओर उत्सुकता से देखा है। भारतीय ऋषियों ने प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान के अति-रिक्त एक चौथे अवयव आप्त प्रमाण को स्वीकार किया है। यह आप्त प्रमाण प्रज्ञा चक्षु मनीषियों की आन्तरिक अनुभूति कहा गया है, जो वेद और उपनिषद् की वाणी में संकलित है। हिन्दू षट् दर्शन ने उपरोक्त चार प्रमाणों के आधार पर अपने दर्शन का विस्तार किया है। हिन्दू दर्शन की मूल मान्यताऐं जगत के रहस्यों के उद्घाटन की दिशा में एक समग्र चित्र प्रस्तुत करती हैं ऐसा मेरा मत है। किन्तु इस दिशा में दो तथ्य विचारणीय हैं।

प्रथम यह कि षट् दर्शन की प्रणाली ही कुछ ऐसी है कि जितना अधिक से अधिक कम से कम शब्दों में कहा जाय उतना उत्तम माना जाता था। इस मान्यता ने विषय को प्रस्तुत करने की सूत्र प्रणाली को विकसित किया। अतः कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक रहस्य निहित हो गया तथा सूत्रों का अभिप्राय जानना दुरूह हो गया। इस कारण भाष्यकारों में मतभेद हो जाना स्वाभाविक हो गया जैसा कि यह सभी जानते हैं कि एक ही वेदान्त दर्शन के भाष्य से अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्तों का विकास हुआ है। अतः सूत्रों में निहित सत्य को प्रकाश में लाने हेतु गहन अन्वेषण आवश्यक है।

ग्रन्थ में दर्शन के कुछ मौलिक प्रश्नों के समाधान की दिशा में विचार किया गया है। कुछ प्रश्न इस प्रकार हैं—

गुण द्रव्य का स्वरूप व परस्पर संबंध क्या है?
सत् क्या है, असत् क्या है, इनमें क्या भेद है?

उत्पत्ति, विनाश का स्वरूप क्या है ?

अनादि अनन्त के लक्षण क्या हैं ?
क्या अनादि तत्त्व सान्त (अन्तवान्) हो सकता है ?
क्या अनादि कारण से कार्योत्पत्ति हो सकती है ?
क्या प्रकृति त्रिगुणात्मिका है ? यदि नहीं तो गुण की उत्पत्ति किसमें और कैसे होती है ?
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । इस सांख्य सूत्र में कौन सा सत्य निहित है ? गुणों की साम्यावस्था का स्वरूप क्या है आदि ।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान के प्रभाव के कारण मानव अब यह अपेक्षा करने लगा है कि दर्शन का ज्ञान भी विज्ञान की तरह परीक्षण का विषय होना चाहिये अतः किसी शास्त्र प्रमाण को स्वीकार करने के लिये आज का मानव तैयार नहीं है अतः तर्क, युक्ति, विश्लेषण का महत्व सर्वाधिक हो गया है । इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए यद्यपि शास्त्र वचनों को यत्र तत्र उद्धृत किया गया है जिसका तात्पर्य शास्त्र मान्यता को प्रकाश में लाना है तथापि वचनों में निहित सत्य का परीक्षण स्वतंत्र रूप से भी किया गया है ।

बहुधा यह कहा जाता है कि दर्शन बकवास है दर्शन व्यवस्थित तर्क का विषय नहीं हो सकता । यदि दर्शन आकाश में उड़ान भरे अर्थात् केवल कल्पना के सहारे उड़े तो वह दर्शन नहीं कहा जा सकता । दर्शन के दो पक्ष हैं– प्रथम है पदार्थ के गुण धर्म स्वभाव का यथार्थ अवलोकन और दूसरा है उस यथार्थ अव–लोकन पर आश्रित तर्क । पदार्थ के गुण धर्म का यथार्थ अवलोकन तो विज्ञान है अतः प्रथम चरण तो विज्ञाननिष्ठ है और दूसरा चरण सत्य मीमांसा है जो कल्पना नहीं है वरन् दर्शन के शब्दों में प्रमाणों के द्वारा अर्थ का परीक्षण न्याय है, तर्क है । प्रथम चरण अर्थात् पदार्थ के गुण धर्म का अवलोकन जितना विज्ञान समर्थित होगा उस अवलोकन पर आधारित तर्क उतना वास्तविक एवं सत्य के निकट होगा । पदार्थ की रचना के विषय में दर्शन, विज्ञान की अवहेलना नहीं कर सकता और यदि करता है तो यथार्थवादी नहीं हो सकता । उदाहरण के लिये पदार्थ रचना कारण कार्य सिद्धान्त (Law of cause & effect) या शक्ति संरक्षण (Principle of conservation of energy) पर निर्भर है समस्त पदार्थ विज्ञान इस सिद्धान्त की नींव पर खड़ी है । इस सिद्धान्त के विपरीत जगत को (अर्थात् पदार्थ को) स्वप्नवत् कहना दोषपूर्ण तर्क है क्योंकि स्वप्न के द्रव्य उपरोक्त सिद्धान्तों का पालन नहीं करते । इस प्रकार जिस तर्क का आधार ही गलत हो वह सत्य परिणाम में फलीभूत नहीं हो सकता । ग्रन्थ में यह प्रयास किया गया है कि तर्क विज्ञाननिष्ठ अवलोकन पर आधारित्त हो ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विज्ञान का क्षेत्र असीमित है वरन् यह है कि विज्ञान का क्षेत्र पदार्थ तक सीमित है उसका क्षेत्र चेतना, मन की अनुभूति में आने वाले विषय जैसे विचार, ज्ञान, बोध, स्मृति, निश्चय, दुःख-सुख का भान आदि को सन्निहित नहीं करता। अनुभूत विषयों की मीमांसा पराविज्ञान है इसकी प्रयोग-शाला मन है तर्क ही कसौटी (acid test) है यथार्थ बोध की यथावत् अभिव्यक्ति उस अनुभूत प्रत्यक्षीकरण का दर्शन है। यही कारण है कि यथार्थ द्रष्टाओं का मत भारतीय दर्शन में मान्य हुआ है वह कोई अंधविश्वास नहीं है जिन्होंने अनुभव किया है इसीलिये उन्हें सिद्ध कहा गया है। जो साध्य है वह सिद्ध नहीं है जो सिद्ध हो चुका वह साध्य नहीं रह जाता। अनुभूति के आधार पर ऋषियों ने आत्मा और परमात्मा को सिद्ध माना है पर ग्रन्थ में आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म के तथ्य का परीक्षण तर्क और युक्ति से कई दृष्टिकोणों से किया गया है।

अन्त में ईश्वर अस्तित्व संबंधी तीन प्रश्नों की मीमांसा की गई है– १. क्या जगत आकस्मिक घटना है? २. क्या अनादि कालीन अव्यवस्था की परिणति जगत रूप में हुई अथवा ३. क्या जगत अनादि कालीन व्यवस्था का दर्शनीय भाग है? इन प्रश्नों का उत्तर आधुनिक तत्त्व दर्शन व विज्ञान से अपेक्षित है।

ग्रन्थ के नाम 'चरम सत्य की खोज में' से कोई यह समझे कि इसमें कोई सर्वथा नया दर्शन प्रस्तुत किया गया है तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। जैसे विज्ञान हजारों वैज्ञानिकों का सम्मिलित व सतत प्रयास हैं वैसे ही अनेकों दार्श-निकों के सम्मिलित प्रयास को व्यवस्थित क्रम में प्रस्तुत करने का यह अभिनव प्रयास है। दर्शन (metaphysics) का अर्थ है चरम सत्य की जाँच (investigation of ultimate truth) अतः वर्तमान ग्रन्थ खोज अर्थात् जाँच संबंधी ही है।

जो कुछ भी तुच्छ प्रयास है वह पाठकों के समक्ष है उससे यदि विषय पर छुटपुट प्रकाश भी पड़े तो लेखक का श्रम साध्य होगा।

कुछ प्रश्न रह गये हैं जैसे जीवन का चरम लक्ष्य। यह ग्रन्थ रचना का प्रथम प्रयास है अतः पृष्ठ संख्या सीमित रखने का निर्णय भी प्रेरित कर रहा था कि सीमित पहलू ही जाँच के अन्तर्गत लिये जावें। शेष प्रश्न अन्य ग्रन्थ में लेने का बिचार है। प्रूफ रीडिंग का प्रथम अवसर होने से ग्रन्थ में कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। ग्रन्थ के अन्त में अशुद्धियों की आंशिक सूची दी गई है ग्रन्थ पढ़ने के पूर्व पाठक स्वयं अशुद्धियों को परिमार्जित कर लें।

अन्त में पूज्या माता, पूज्य पिता, पूज्य गुरुजन 'एवं पूज्यवर विद्वत् वर्ग के चरण कमलों की वन्दना कर ग्रन्थारंभ किया जाता है।

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

चरम सत्य की खोज में

प्रमुख विषयों की अनुक्रमणिका—

संकेत सूची—

संकेत	
ऋ.	ऋग्वेद / मंडल / सूक्त / मन्त्र
अथ.	अथर्ववेद / काण्ड / सूक्त / मन्त्र
कठ.	कठोपनिषद् / अध्याय / वल्ली / श्लोक
तै.	तैत्तिरीय शिक्षा वल्ली / अनुवाक / श्लोक
बृ.	बृहदारण्यक / अध्याय / ब्राह्मण / श्लोक
मु.	मुण्डक / मुण्डक / खण्ड / श्लोक
श्वे.	श्वेताश्वर / अध्याय / श्लोक
न्या.	न्याय / अध्याय / आह्निक / सूत्र
ब्र. सू.	ब्रह्म सूत्र / अध्याय / पाद / सूत्र
यो. सू.	योग सूत्र / पाद / सूत्र
वै. द.	वैशेषिक दर्शन / अध्याय / आह्निक / सूत्र
सां. सू.	सांख्य सूत्र / अध्याय / सूत्र

अध्याय १

मूल स्वयंसिद्ध (axioms) अनुभूतियां एवं तर्क विधि

इस अध्याय में उन सहज अनुभूतियों की व्याख्या की गई है जो विवाद के विषय नहीं हैं।

सामान्य, समान अथवा साधर्म्य – भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो समानता दिखाई देती है उसे सामान्य (समान) या साधर्म्य या समान कहते हैं। जैसे हीरा, नीलम, पुखराज इन सबमें यह समानता है कि सभी पत्थर हैं। मनुष्य, हाथी, घोड़ा आदि में यह समानता है कि सभी प्राणी हैं।

विशेष – जो एक पदार्थ की अपेक्षा दूसरे पदार्थ में भेद बुद्धि उत्पन्न करता है उसे विशेष कहते हैं। जो एक पदार्थ में है किन्तु दूसरे में नहीं है अर्थात् जो दो पदार्थों के बीच की असमानता को असिद्ध करता है उसे विशेष कहते हैं। हीरा सफेद होता है किन्तु नीलम नीला होता है अतः नीलम में हीरे की अपेक्षा नीला रंग विशेष है यद्यपि दोनों में यह समानता है कि दोनों पत्थर हैं। इसी प्रकार मनुष्य में वह भेद जो उसे हाथी, घोड़े आदि से पृथक् करता है विशेष है। तीन मनुष्यों में मनुष्यपन की सधर्म्यता है किन्तु वह भेद जिससे एक को बालक, दूसरे को युवा तथा तीसरे को वृद्ध कहते हैं विशेष है।

साधर्म्य विशेषता से बड़ी या व्यापक है। उपरोक्त उदाहरण में बालकपन जो विशेषता है केवल एक में है किन्तु मनुष्यता जो समानता है तीनों में है।

लक्षण – यह वह विभेद बुद्धि है जो किसी वस्तु को अन्य सभी वस्तुओं से सर्वथा पृथक् करती है। यह विशेष का ही परिमार्जित रूप है। अन्य सभी वस्तुओं से निर्णायक विशेष स्वरूप भेद को लक्षण कहते हैं। लक्षण को तीन दोषों से मुक्त होना चाहिये। ये हैं अतिव्याप्ति दोष, अव्याप्ति दोष तथा असम्भव दोष।

अतिव्याप्ति दोष – जब लक्षण निर्धारित लक्ष्य (*fixed aim*) से भिन्न अन्य सत्ता को भी परिलक्षित करता है तो उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि कहा जावे कि सींग वाला जानवर बैल होता है तो यह लक्षण (पहिचान) निर्दोष नहीं है क्योंकि सींग बकरी, भैंस, हिरण आदि के भी होता है। यहां लक्ष्य बैल का लक्षण निर्धारित करना है। इंगित किया गया गुण बैल के अतिरिक्त अन्य में भी पाया जाता है अर्थात् अन्य लक्ष्य में भी व्याप्त है। अतः लक्ष्य

से परे व्याप्त होने से लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। एतदर्थ यह लक्षण नहीं है।

अव्याप्ति दोष – जब लक्षण निर्धारित लक्ष्य में भी पूर्ण रूप से प्रयुक्त नहीं होता तब उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि कहा जाय कि वृक्ष उसे कहते हैं जो फल देता है। यह लक्षण सभी वृक्षों को परिवेष्ठित नहीं करता क्योंकि सभी वृक्ष फल नहीं देते। अतः वे वृक्ष इस लक्षण के दायरे में नहीं आते जो फल नहीं देते। अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष युक्त है अतः इसे लक्षण नहीं कह सकते।

असम्भव दोष – जब लक्षण निर्धारित लक्ष्य में भी नहीं घटता तो उसे असंभव दोष कहते हैं। जैसे यह कहा जावे कि मनुष्य वह प्राणी है जो मृत्यु से मुक्त है। क्योंकि कोई भी मनुष्य मृत्यु से मुक्त नहीं है अतः यह लक्षण मनुष्य में नहीं घटता अर्थात् असम्भव है।

समवाय सम्बन्ध (Inseperable relationship) – दो के बीच अनादि काल से चले आ रहे प्रगाढ़ मिलाप, अविच्छिन्न सम्बन्ध, अभेद संलग्नता को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। जब दो के बीच अविच्छेद्य संयोग होता है अर्थात् जब इस सम्बन्ध को पृथक् नहीं किया जा सकता तब इसे समवायिन् कहते हैं। जिन दो के बीच समवाय संबंध होता है उनमें से जब तक एक का अस्तित्व रहता है तब तक दूसरे का अस्तित्व भी रहता है। यदि एक का अस्तित्व समाप्त होता है तो दूसरे का भी समाप्त होता है। उदाहरण के लिये सोना और उसके पीलेपन में समवाय संबंध है। जब तक वस्तु सोना है उसमें पीलापन अवश्य रहेगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि वस्तु सोना तो रहे पर उसमें पीलापन न रहे। इसी प्रकार अग्नि वह है जिसमें ताप हो। ताप रहित अग्नि नहीं हो सकती। अग्नि और ताप में समवाय संबंध है।

संयोग – दो भिन्न पदार्थों के एक दूसरे से मेल को संयोग कहते हैं। इस मेल के परिणामस्वरूप दोनों पदार्थों के बीच साधारण मिलाप भी हो सकता है जिसमें दोनों का पृथक् अस्तित्व बना रहे। जैसे वृष्टि जल का धरती से मिलाप, बाण का धनुष से मिलाप। यह मेल घनिष्ट भी हो सकता है। यह मिलाप इतना प्रगाढ़ होता है कि मेल करने वाले द्रव्य आंतरिक रूप से मिलाप करके नवीन रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के लिये आक्सीजन और हाईड्रोजन संयोग करके नवीन द्रव्य पानी के रूप में देखे जाते हैं।

विभाग (Seperation or disintegration) – पूर्व संयुक्त रूप में स्थित दो पदार्थों के पृथक्-पृथक् हो जाने को विभाग या वियोग कहते हैं। यह संयोग का विपरीत है। उदाहरण के लिये धनुष से बाण का छोड़ा जाना, पानी का उसके अवयवों आक्सीजन, हाईड्रोजन में विभक्त होना।

क्रिया – फैलना, सिकुड़ना, संयोग करना, विभक्त होना, टकराना, नया आकार ग्रहण करना, आकर्षित करना, अवस्थान्तरित होना आदि क्रियाएँ हैं।

क्रिया, संयोग, विभाग आदि का स्वतंत्र निरपेक्ष कारण नहीं है। स्वतंत्र निरपेक्ष कारण का अर्थ है जो इच्छा शक्ति से संचालित हो सके। जैसे प्राणी जब इच्छा करता है तब चलता है, जिस ओर चलने की इच्छा करता है उस ओर चलता है, जब चलने की इच्छा नहीं करता नहीं चलता। वायु का प्रवाह, जल का प्रवाह, प्रकाश का चलना उसी प्रकार का नहीं है। इन प्रवाहों को प्राणी के चलने की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। अतः वायु का चलना, जल का प्रवाह, प्रकाश का चलना, पृथ्वी का सूर्य की परिक्रमा करना आदि क्रियाएँ हैं जिनके भौतिक कारण हैं। वायु का प्रवाह ताप की विषमता के कारण है, ताप की विषमता का कारण सूर्य से दूरी है। ग्रहों आदि के परिभ्रमण में गुरुत्वाकर्षण हेतु है।

कर्म – जब सिकुड़ना, फैलना, चलना, संयोग, विभाग आदि किसी स्वतंत्र निरपेक्ष कारण पर आश्रित होते हैं तो उस क्रिया को कर्म कहते हैं तथा स्वतंत्र निरपेक्ष कारण को कर्त्ता कहते हैं। कर्म प्राकृतिक कारण से पूर्ण स्वतंत्र कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर रहता है। धनुष से बाण संधान कर्म है। बाण चलाने या न चलाने में कर्त्ता पूर्ण स्वतंत्र है। अतः बाण संधान की क्रिया कर्त्ता की इच्छा पर आधारित होने से कर्म है। कर्म का स्वतंत्र निरपेक्ष कारण होने से कर्त्ता कर्म से उत्पन्न क्रिया के लिये उत्तरदायी है।

तर्क शास्त्र क्या है –

यह जगत क्या है इसकी परीक्षा कैसे की जावे इनके लिये हमें तर्क शास्त्र (*logic*) का आश्रय लेना पड़ता है। तर्क का अभिप्राय सत्य धारणा पर पहुंचना है। अतः जगत के सत्स्वरूप के विवेचन का तर्क साधन है। यह जगत क्या है, मैं कौन हूँ, जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, इस सृष्टि की आधारभूत शाश्वत् शक्तियां क्या हैं आदि प्रश्नों का सम्यक् समाधान दर्शन या तत्त्व ज्ञान कहा जाता है। अब प्रश्न यह है कि इस सम्यक् ज्ञान के प्राप्त्यर्थ कौन-सी विधि अपनायी जावे उसका स्वरूप क्या हो जो हमारे इष्ट निर्भ्रम ज्ञान तक हमें पहुंचा दे इस विधि को भारतीय दर्शन में 'न्याय पद्धति' नाम प्राप्त है। वास्तव में न्याय दर्शन ने, जो छः दर्शनों में से एक है तर्क शास्त्र को एक विवाद रहित, एक यथार्थवादी दृष्टि प्रदान की है यहां तक कि बौद्ध विद्वानों ने भी न्याय दर्शन की तर्क पद्धति को अपनाया है। बौद्ध दर्शन के परम विद्वान् आचार्य धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ वादन्याय में न्याय दर्शन का पद-पद पर सहारा लिया है। ऋषि वात्स्यायन ने न्याय सूत्र के भाष्य में जो

परिभाषा दी है वह जानने योग्य है–

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।

प्रमाणों के द्वारा अर्थ (विषय) की परीक्षा न्याय है ।

संसार में हम सोने की परीक्षा हेतु उसे कसौटी पर कसते हैं । यह न्याय (तर्क) शास्त्र किसी विषय के सत्यासत्य निर्णय हेतु कसौटी है । पाश्चात्य दर्शन में तर्क को ही प्रमाण माना गया है वहां तर्क का महत्व सर्वोपरि है किन्तु भारतीय दर्शन में आप्त प्रमाण को ही परम प्रमाण माना गया है । वे शास्त्र जो वेद को परम प्रमाण मानते हैं षट् दर्शन कहलाते हैं ये हैं पूर्व मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक । इनमें से प्रथम दो पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा (वेदान्त) ने अपने सिद्धांत को प्रस्थापित करने के हेतु केवल श्रुति (वेद) को ही प्रमाण माना है । इन दर्शनों में तर्क को स्थान नहीं मिला है किन्तु अन्य शेष चार दर्शनों में वेद के साथ-साथ तर्क प्रमाण को भी उतना ही महत्व प्राप्त है । इनमें से न्याय दर्शन में तर्क को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है । आधुनिक युग विज्ञान का युग है तर्क के अतिरिक्त अन्य किसी विधि को मान्यता प्राप्त नहीं है । न्याय दर्शन प्रणीत तर्क शास्त्र की पाश्चात्य विद्वानों ने भी प्रशंसा की है विशेषकर न्याय शास्त्र के अनुमान प्रमाण का जो पंच अवयवों पर आधारित है । अन्य दर्शनों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने आक्षेप किया है कि इनके पास अपना मत प्रस्थापित करने के लिये कोई स्वतन्त्र तर्क नहीं है ये श्रुति वचन को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु न्याय दर्शन की तर्क आधारित पद्धति अन्य दर्शनों से विलक्षण है । न्याय शास्त्र का प्रमाण-विचार उच्चकोटि का है । अब यहां न्याय प्रतिपादित प्रमाण पद्धति जिसे अन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं, का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिससे हमें किसी अर्थ के सम्बन्ध में निभ्रम ज्ञान प्राप्त करने का तरीका विदित हो जावे तथा किसी भ्रमपूर्ण तर्क में दोष, वाग्जाल की स्थिति का स्पष्ट ज्ञान हो सके ।

न्याय शास्त्र के अनुसार प्रमाण चार प्रकार के हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं आप्त वचन । अब प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे ।

प्रत्यक्ष – इन्द्रियजन्य निभ्रम एवं निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष (*realisation or cognition*) कहते हैं । इन्द्रियां ज्ञान की साधन हैं जिसे हम आंख से देखते हैं, अपने कान से सुनते हैं, अपने स्पर्श से अनुभव करते हैं आदि । उसे हम अपना प्रत्यक्ष का अनुभव कहते हैं । कभी-कभी इन्द्रियजन्य ज्ञान भी भ्रमपूर्ण होते हैं। उदाहरण के लिये हमारा इन्द्रियजन्य ज्ञान है कि सूर्य पृथ्वी की परिक्रमा करता है किन्तु सत्य इसके विपरीत है । वास्तव में सूर्य स्थिर है तथा पृथ्वी चलती है । उसी प्रकार धूप में चमकती हुई रेत जल का भ्रम उत्पन्न करती है । नीला दिखने वाला

आकाश वास्तव में भ्रम है विज्ञान बतलाता है कि अत्यधिक दूरी, असीम गहरायी से आने वाली किरणों को ग्रहण करने की असमर्थता के कारण नील वर्ण की पृष्ठ-भूमि सी दिखाई पड़ती है।

अतः प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रियजन्य हो तथा ज्ञान की अन्य परख से निर्भ्रम सिद्ध हो चुका हो। इसका यह सूत्र है—

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।

यहां प्रत्यक्ष के तीन लक्षण बताए गए हैं—

१. **अव्यपदेश्यम्** – व्यपदेश्य उसे कहते हैं जिसका वर्णन वाणी से भाषा में हो सके। अव्यपदेश्य वह है जिसे अनुभव तो किया जाता है किन्तु वर्णन सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये भोजन बड़ा स्वादिष्ट है, मिठाई बड़ी अच्छी है, नमकीन रुचिकर है आदि। यहां स्वादिष्ट होना, अच्छा होना, रुचिकर होना लगभग समानार्थी पद हैं भोजन की यथार्थ अच्छाई वर्णन के परे है वह तो केवल अनुभव का विषय है। इसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा हुआ प्रत्यक्ष अथवा मानसिक, प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। जब किसी विषय का प्रत्यक्ष इन्द्रिय संयोग के माध्यम से होता है तो इसे वाह्य प्रत्यक्ष कहते हैं किन्तु जब विषय का प्रत्यक्ष केवल मन के संयोग से होता है तो इसे अभ्यन्तर प्रत्यक्ष कहते हैं इसके उदाहरण हैं भूख का अनुभव, प्यास का अनुभव, दर्द का अनुभव जो किसी इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित नहीं हैं।

२. **अव्यभिचारि** – प्रत्यक्ष भ्रमरहित होना चाहिये। इसके उदाहरण पहले दे आये हैं। मृगतृष्णा में जल, सूर्य का पृथ्वी की परिक्रमा करना, रज्जु में सर्प का भान होना आदि इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न भ्रान्तिपूर्ण प्रतीति है अतः प्रत्यक्ष नहीं है प्रत्यक्ष निर्भ्रम होना चाहिये।

३. **व्यवसायात्मक** – व्यवसायात्मक का अर्थ है निश्चयात्मक। आकाश की दिखाई देने वाली नीलिमा निश्चयात्मक ज्ञान नहीं है इसी प्रकार दूर आकाश में दिखाई देने वाली धूल धुआं के समान प्रतीत होती है अतः यह प्रत्यक्ष नहीं है इसका निश्चय ज्ञान के अन्य साधन से होना आवश्यक है। जब सभी द्रष्टा किसी विषय में एकमत हों कि यह वृक्ष है, यह घट है इसमें किसी प्रकार के संशय को स्थान न हो, इस अर्थ की पूरी तरह परख कर ली गयी हो तब वह निश्चयात्मक कहलाता है।

अनुमान – इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित यह ज्ञान का द्वितीय साधन है। इन्द्रियजन्य पूर्व ज्ञान की स्मृति पर आधारित होने से यह प्रत्यक्ष के सदृश ही होता

है। जैसे बन में धुआं देखने से अग्नि के होने का अनुमान होता है क्योंकि यह पूर्व ज्ञान पर आधारित है कि अग्नि और धुआं साथ-साथ पाये जाते हैं। इसका तीन प्रकार का विभाग किया गया है। इसका यह सूत्र है–

तत् पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्–पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च।

१. पूर्ववत् – कारण को देखकर कार्य का ज्ञान करना। यथा बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान करना। आग को देखकर धुआं का अनुमान करना।

२. शेषवत् – कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना। जैसे वर्षा को देखकर यह अनुमान करना कि बादल आये होंगे उन्हीं से वर्षा हुई। धुएँ को देखकर आग का अनुमान करना। पुत्र को देखकर पिता के होने का अनुमान करना।

सामान्यतोदृष्ट – जहां कार्य कारण न हो वहां साधारण प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित ज्ञान के द्वारा निर्णय करना। यथा- एक स्थान से कोई व्यक्ति दूसरे स्थान पर पहुंच जावे तो यह अनुमान होता है कि वह किसी साधन से आया है पैदल चलकर या वाहन से। यह साधारण ज्ञान पर आधारित है।

३. उपमान – किन्हीं दो पदार्थों के किसी धर्म (गुण) विशेष के विषय में प्रत्यक्ष के आधार पर जो सदृश्यता का पूर्व ज्ञान हो उसे उपमान कहते हैं। जैसे यह कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का वर्ण (रंग) गेहूँ के समान है। यहां वर्ण तुलना का विषय है गेहूँ का रंग तथा व्यक्ति का पूर्व ज्ञात तथ्य हैं अत: उपमान प्रत्यक्षाधारित है। इसी प्रकार कहा जाता है कि ज्ञान प्रकाश स्वरूप है प्रकाश का गुण वस्तु के स्वरूप को प्रकट करना है ज्ञान का भी यही कार्य है अत: उपरोक्त उपमा में दो द्रव्यों के ज्ञात गुणों की तुलना करके साधर्म्य का प्रतिपादन हुआ है।

४. आप्तोपदेश – आप्त पुरुष के विषय में भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने लिखा है–

आप्त खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा पश्यति तथैव वदति।

जिस पुरुष ने किसी अर्थ (ज्ञान) का प्रत्यक्ष किया है तथा सत्य से प्रेरित हो जैसा देखता है वैसा ही वर्णन करता है।

यह दो प्रकार का है। आप्त पुरुष के जिस कथन को इसी लोक में जाना जा सके वह दृष्टार्थ कहलाता है। जैसे जापान, लंदन कैसा है इसका प्रमाणिक विवरण किसी व्यक्ति, लेखक से प्राप्त करना दृष्टार्थ कहलाता है क्योंकि इस विवरण को जाकर परीक्षा की जा सकती है। जिस अर्थ की प्रतीति इस लोक में न हो सके वह अदृष्टार्थ आप्त वचन है। इस श्रेणी में वेद, उपनिषद् आदि के वचन आते हैं जैसे

यह आत्मा देह के साथ संयुक्त हो पुनर्जन्म में प्रवृत्त होता है। मोक्ष के लिये प्रयत्न करें।

अनुमान प्रमाण के पञ्चावयव– किसी तथ्य की सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग पांच वाक्यों द्वारा किया जाता है ये प्रत्येक अवयव तथ्य की सिद्धि में साधक होने से पृथक् रूप से भाग मात्र हैं किन्तु संयुक्त रूप में साध्य (जिसे सिद्ध किया जाना है) को सिद्ध करने में अत्यन्त सफलता से अर्थ को प्रतिष्ठापित करते हैं। ये पांच अवयव हैं –

१. प्रतिज्ञा – जो तथ्य सिद्ध किया जाना हो उसे प्रतिज्ञा कहते हैं। किसी धर्मी (वस्तु) में किसी विशिष्ट धर्म की घोषणा प्रतिज्ञा कहलाती है जो अर्थ सिद्ध नहीं है उस साध्य अर्थ को सिद्ध करने के कथन का किया जाना प्रतिज्ञा है।
जैसे पर्वत पर अग्नि है। यहां पर्वत धर्मी पर अग्नि धर्म का कथन हुआ है।

२. हेतु – उदाहरण साधर्म्य (सदृश्यता) से साध्य का साधक हेतु कहलाता है। यह हेतु साध्य तथा दृष्टान्त दोनों में व्याप्त होता है। पूर्वोक्त प्रतिज्ञा की सिद्धि में धूम (धुआं) हेतु है। हेतु स्वयं में अनुमान प्रमाण है। जैसे धूम को देखकर अग्नि के होने का अनुमान करना। हेतु का प्रतिज्ञा वाक्य से घना सम्बन्ध है। प्रतिज्ञा वाक्य का धर्म (साध्य) जिसे सिद्ध किया जाना है हेतु में पूर्ण रूप से निहित हो जाता है। जैसे धूम का अग्नि से अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान पर आश्रित है। अतः हेतु प्रतिज्ञा के धर्म में साधक होता है।

३. दृष्टान्त – साध्य में जो धर्म (गुण विशेष) सिद्ध किया जाना है उसी धर्म से सम्बद्ध भाव जिसमें है वह दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्त में वही गुण रहना अनिवार्य है जिसे सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गई है तथा दृष्टान्त उस धर्म का साक्षात् ज्ञान के आधार पर प्रत्यक्ष प्रमाण है। दृष्टान्त साध्य के साधन का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

पूर्वोक्त प्रतिज्ञा कि पर्वत पर अग्नि है, इसमें हेतु है पर्वत पर धूम का होना जिसके आधार पर प्रतिज्ञा की गयी है कि पर्वत अग्निमय है। अब दृष्टान्त में यह प्रत्यक्ष अभिप्रेत है कि धूम के साथ अग्नि का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यहां दृष्टान्त है रसोईघर में अग्नि-धूम साथ-साथ देखे गये हैं जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है अर्थात् दृष्टान्त हेतु को पुष्ट करता है। हेतु दृष्टान्त में भी व्याप्त है अर्थात् जहां-जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है यह अर्थ दृष्टान्त में द्रष्टव्य है।

४. उपनय – यह चौथा अवयव उपमान प्रमाण है। उदाहरण देकर यह कहना

कि प्रतिज्ञा वाक्य का धर्म भी वैसा ही है जैसा कि उदाहरण वाक्य का धर्म है उपनय कहलाता है। इस सदृश्यता के आधार पर निर्णय निश्चयपूर्वक लिया जा सकता है।

५. निगमन – हेतु कथन पूर्वक प्रतिज्ञा का दुहराया जाना निगमन है। यह अवयव उपसंहार निमित्तिक है। यह दर्शाता है कि प्रतिज्ञा सिद्ध हो गयी है अतः यह निश्चयार्थक दृढ़तापूर्वक कथन हुआ है। अब पांचों अवयवों के स्वरूप को क्रमवद्ध रूप में उदाहरण के माध्यम से रखा जाता है जिससे तर्क का स्वरूप प्रकट होगा।

१. प्रतिज्ञा – पर्वत पर अग्नि है।
२. हेतु – (जहां-जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है) पर्वत पर धूम है।
३. दृष्टान्त – जैसा रसोईघर में देखा गया है।
४. उपनय – तथा 'चायम्' वैसा ही धूमवान् यह पर्वत है।

यहां प्रतिज्ञा का धर्मी (गुणवान्) पर्वत तथा रसोईघर में एक से धर्म धूम होने का कथन है तथा रसोईघर में धूम के साथ-साथ अग्नि की विद्यमानता है।
५. निगमन – यह उपसंहार होता है कि पर्वत पर अग्नि है।

इस प्रकार यह अनुमान प्रमाण पांच परस्पर अटूट सम्बद्ध अवयवों के क्रमपूर्वक निर्दोष कथन के फलस्वरूप प्राप्त हुआ संशयरहित निर्णय है जो साक्षात् प्रत्यक्ष के अनुरूप ही मान्य है। अनुमान प्रमाण का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान ही अन्य प्रमुख विधि है जिससे सत्य निर्णय प्राप्तव्य है। पाश्चात्य तर्क शास्त्र में केवल तीन अवयव होते हैं यथा –
प्रथम पद – मनुष्य मरणधर्मा है।
द्वितीय पद – सुकरात मनुष्य है।
उपसंहार – इसलिये सुकरात मरणधर्मा है।

इस त्रिपदी तर्क वाक्य समूह से न्याय दर्शन की पंच पदी तर्क व्यवथा की श्रेष्ठता तुरन्त दर्शनीय है। यदि उपरोक्त पँचावयव परस्पर असम्बद्ध हों अनर्गल हों तो साध्य कभी सिद्ध न होगा। इस प्रकार के तर्क देखने में आते हैं जो तर्क के नियमों के प्रतिकूल होते हैं उदाहरण –
जैसे नदियां अपने स्वरूप को खोकर समुद्र में मिल जाती हैं तथा समुद्र ही हो जाती हैं वैसे ही आत्मा (जीवात्मा) अपने स्वरूप को खोकर परमात्मा में मिलकर परमात्मा हो जाता है।

उपरोक्त तथ्य की जांच हेतु इसे पँच अवयव में रखने पर यह दृष्टव्य है कि

युक्ति अनर्गल है यथा-
१. प्रतिज्ञा- आत्मा परमात्मा में मिलकर परमात्मा ही हो जाती है।
२. हेतु- कुछ नहीं। ३. दृष्टान्त- नदियां समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती है। इस तर्क में हेतु का अभाव है, हेतु प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त दोनों के धर्म को व्याप्त करता हैं जैसे कि पूर्वोक्त उदाहरण में देखा गया है यथा- धूमवान् होना – पर्वत व रसोईघर के धर्म को व्याप्त करता है।

यहां हेतु नहीं है यदि कहो कि हेतु है—एक देशी (आत्मा) का अन्य देशी परमात्मा में मिलना जो दोनों प्रतिज्ञा व उदाहरण में पाया जाता है तो नहीं कह सकते।

नदी तथा समुद्र दोनों एक देशी हैं अर्थात् जहां नदी है वहां समुद्र नहीं है जहां समुद्र है वहां नदी नहीं है किन्तु यह तथ्य जीवात्मा व परमात्मा में प्रयुक्त नहीं होता क्योंकि समुद्र की तरह ईश्वर एक देशी नहीं है वरन् सर्वव्यापी है। दूसरी बात यह है कि जीव ईश्वर सम्बन्ध नदी समुद्र सम्बन्ध को तरह द्राव्यिक सम्पर्क वाला नहीं है वरन् ईश्वर, जीव दोनों भौतिक हैं अमूर्त हैं अतः एक ही स्थान में परस्पर पृथक्-पृथक् रहते हुए भी व्यापक व्याप्य संबंध से युक्त हैं।

प्रतिज्ञा वाक्य आत्मा का परमात्मा में मिलना तथा दृष्टान्त नदी का समुद्र में मिलना परस्पर असम्बद्ध हैं अर्थात् नदी का समुद्र में मिलना आत्मा का परमात्मा में मिलने का हेतु नहीं है। जैसा कि न्याय दर्शन के उदाहरण में रसोईघर में धूम होना अग्नि धूम की अविच्छिन्न एकात्म स्थिति का परिचायक है तथा पर्वत के धूम मे भी सम्बद्ध है यहां धूम धर्म तीनों प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त में व्याप्त हो नहीं वरन् धूम की तीनों में सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित है। विचारणीय तर्क में ईश्वर का आत्मा के देश से पृथक् देशीय होना स्वयं साध्य है इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु व दृष्टान्त तीनों परस्पर असम्बद्ध हैं इससे कोई उपनय सदृश्यता नहीं बनती। यह तर्क सर्वथा अनर्गल है इससे कोई निर्णय फलित नहीं होता।

हेतु, एक देशी आत्मा का अन्य देशी परमात्मा में मिलना, स्वयं साध्य है। दूसरी बात यह है कि हेतु को मान लेने से ईश्वर की सर्वव्यापकता बाधित होती है। नदी के समुद्र में मिलने से समुद्र का प्रसार होता है क्या ईश्वर भी वैसा ही परिणामी, विकारी है? अतः प्रतिज्ञा पूर्णरूपेण अनर्गल है।

प्रत्येक साध्य की सिद्धि की पूर्णता अनुमान प्रमाण के पांच अवयवों के निर्दोष प्रयोग से सम्पन्न होती है। इनके समुचित प्रयोग से वादी, प्रतिवादी, श्रोता आदि सभी को अर्थ सिद्धि में संशयरहित निष्ठा जागृत होती हैं। इस प्रकार

अवयवों का प्रयोग सप्रयोजन है इनमें प्रतिज्ञा से आरम्भ होकर तर्क का क्षेत्र उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ निगमन (निश्चय) में फलित होता है। प्रतिज्ञा वाक्य का तात्पर्य है साध्य धर्म जिसे सिद्ध किया जाना है उसका वस्तु के साथ सम्वन्ध प्रकट करना जैसे उपरोक्त उदाहरण में - साध्य धर्म अग्नि का सम्वन्ध पर्वत से सिद्ध किया जाना है। साध्य धर्म की सिद्धि की सामर्थ्य हेतु में होती है जैसे उदाहरण में हेतु– 'पर्वत पर धूम का होना' में पर्वत पर अग्नि सिद्ध करने की सामर्थ्य है। दृष्टान्त का काम है प्रतिज्ञा और हेतु में साध्य साधन भाव प्रदर्शित करना अर्थात् हेतु में जो धर्म कहा गया है वह वस्तुतः सत्य है तथा प्रतिज्ञा के धर्म को व्याप्त करता है समाविष्ट करता है। उदाहरण में दृष्टान्त है- रसोईघर में धूम-अग्नि का साथ-साथ होना। पर्वत पर अग्नि सिद्ध की जानी है इस प्रतिज्ञा में दिये गये हेतु (पर्वत पर धूम का होना) में साधन भाव है सिद्ध करने की शक्ति है इसे प्रत्यक्ष ज्ञान (रसोईघर में धूम है साथ ही अग्नि भी) पर प्रतिपादित करता है।

इस प्रकार हेतु के धर्म में प्रतिज्ञा का धर्म सिद्ध करने की क्षमता है इसे दृष्टान्त प्रत्यक्ष ज्ञान पर प्रस्थापित करता है। उपनय. प्रतिज्ञा के धर्मी (वस्तु) की दृष्टान्त के धर्मी से सधर्म्यता दर्शाता है जिसका वास्तविक प्रतिफल निगमन (पूर्ण सिद्ध भाव) के रूप में फलित होता है। यह निगमन प्रतिज्ञा वाक्य की तर्कयुक्त सिद्धि का, उपसंहार का द्योतक है। एक अन्य साध्य पर विचार किया जाता है।

दूसरा उदाहरण– जैसे एक ही सूर्य सभी क्षेत्र को प्रकाशित करता है वैसे ही एक ही आत्मा (परमात्मा) सब जगत को प्रकाशित करता है अर्थात् एक ही आत्मा सब देहों को धारण करता है।

पंचावयव तर्क पदों में रखने पर –
प्रतिज्ञा– एक ही आत्मा सभी देहों का धारणकर्ता चेतन है।
हेतु – कुछ नहीं।
दृष्टान्त– एक ही सूर्य सभी जगत को प्रकाशित करता है इस उदाहरण में कोई हेतु नहीं है जो प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त को व्याप्त कर सके उन्हें सम्बन्धित कर सके। दो स्वतंत्र प्रतिज्ञाओं से कोई निगमन (निश्चय) नहीं हो सकता। अतः तर्क अनर्गल है।

इस प्रकार न्याय दर्शन की तर्क पद्धति हमें नीर क्षीर विवेक करने के लिये उपयुक्त साधन प्रदान करती है।

संशय प्रस्तुत कर प्रतिपक्ष की स्थापना पुनः पक्ष-प्रतिपक्ष में निर्णय पर पहुंचने के लिये तर्क=न्याय प्रवृति का सहारा लेना इस प्रकार विधिवत् तर्क के

सहारे प्राप्त परिणाम को निर्णय कहते हैं। अनुमानादि प्रमाणों से अर्थ का परीक्षण न्याय (निश्चय) कहलाता है। प्रत्यक्ष और आगम (वेद) से अविरुद्ध अनुमान को अन्वीक्षा कहते हैं तथा इसके आश्रय से प्रवृत्त हो निर्णय उपलब्ध करने की विद्या को आन्वीक्षिकी विद्या या न्यायशास्त्र कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के विरुद्ध है वह तर्क नहीं है न्यायाभास मात्र है अर्थात् उसमें निश्चय है नहीं, सतही है, प्रतीत मात्र होता है न्याय विधि के प्रयोग करने पर कलई खुल जाती है। जो तर्क असिद्ध है वह पांच प्रकार के हेत्वाभास के अन्तर्गत आता है जो तर्क के नियमों के अतिक्रमण से अशुद्ध परिणाम रूप भासित होता है।



अध्याय २

गुण द्रव्य मीमांसा

सर्वप्रथम भावात्मक संवेदनाओं के स्वरूप का विवेचन करना आवश्यक है। बाह्य प्रभाव एवं प्रमेय (*Object*) की उपस्थिति से ज्ञानेन्द्रियों द्वारा द्रष्टा चेतन के मानस पटल पर हलचल उत्पन्न होती है जिसे संवेदना या भाव कहते हैं। इंद्रिय-जन्य ज्ञान के आधार पर जो भावात्मक अनुभव होते हैं उन्हें वर्गीकृत किया जा सकता है। मनोविज्ञान के अनुसार चेतन मनस् के भावात्मक अनुभवों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है ये हैं ज्ञातृत्व (*Knowing*), कर्तृत्व (*Willing*) तथा भोक्तृत्व (*Feeling*)। इस विषय पर विस्तृत विचार यथास्थान किया जायेगा। मानसिक अनुभव के ज्ञातृत्व वर्ग को अर्थात् ज्ञानात्मक भावों को पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार का प्रयास वैशेषिक दर्शन ने किया है। वैशेषिक दर्शन की यह मीमांसा तत्व दर्शन की दृष्टि से पर्याप्त उपादेय है।

दर्शन की दृष्टि से जब हम आगे बढ़ते हैं तो सर्वप्रथम हमें द्रष्टा एवं अनुभव-कर्ता के भावात्मक अनुभवों का अध्ययन करना पड़ता है। प्रकारान्त से हम एक चेतन द्रष्टा (साक्षी) का अस्तित्व अनजाने में ही स्वीकार कर लेते हैं। चेतन द्रष्टा के साक्ष्य के विवेचन पर ही जगत का अस्तित्व है। साक्षी के संवेदनात्मक अनुभवों के भावात्मक विवेचन के अतिरिक्त जगत के अध्ययन का कोई दूसरा साधन नहीं है। बुद्धि के भेदों के आधार पर ज्ञानात्मक अनुभवों के वर्गीकरण का अध्ययन किया जायेगा।

१. सत्तावान् – वह अनुभव, जो अनुभवकर्त्ता (*Subject*) में इस संवेदनात्मक भाव एवं विचार को उत्पन्न करता है जिससे किसी का वर्तमान में होना अनुभव का विषय होता है, किसी के सत्तावान् होने का अनुभव है। जब अनुभवकर्त्ता को किसी अस्तित्व का भान या प्रत्यक्षीकरण हो तथा अनुभवकर्त्ता किसी के विषय में "है" ऐसा प्रयोग करे तो वह सत्तावान् है ऐसा कहेंगे। यहां सत्तावान् होना केवल वर्तमान के अनुभव का विषय है अथवा उस काल का विषय है जब अनुभवकर्त्ता ने प्रत्यक्षीकरण किया। यह ध्यान देने योग्य है कि 'सत्तावान् से' यहां त्रिकाल सत् का भाव ग्रहण नहीं किया गया है अर्थात् 'सत्तावान् से' तीनों कालों – भूत, भविष्यत्, वर्तमान में विद्यमान होने का भाव नहीं है वरन् यह भाव है कि जो वर्तमान में अनुभव का विषय हो। उदाहरण के लिये जैसे हाथ में पुस्तक है। यहां अनुभवकर्ता को यह भाव है कि पुस्तक वर्तमान में है। अतः पुस्तक का सत्तावान् होना कहा जायेगा।

२. अनित्य -- वह अनुभव जिससे किसी के विषय में यह भाव उत्पन्न हो कि कोई सत्तावान् अपने अस्तित्व को खो बैठा है या खो बैठेगा, उस सत्तावान् के विषय में अनित्यता का अनुभव है। जिसके विषय में "पूर्व में सत्तावान् था किन्तु अब नहीं है" ऐसा अनुभव हो अथवा "वर्तमान में सत्तावान् है किन्तु भविष्य में नहीं रहेगा" ऐसा अनुभव हो, अथवा ऐसा प्रयोग किया जा सके कि वर्तमान में सत्तावान् नहीं है किन्तु भविष्य में होगा, उसके सम्बन्ध में वह अनित्यता का अनुभव है।

जैसे कपूर सत्तावान् था अब उड़ गया, अब सत्तावान् नहीं है। कपूर के विषय में यह अनुभव कपूर की अनित्यता का अनुभव है। मोमबत्ती अभी है जलने के उपरान्त नहीं रहेगी अतः मोमबत्ती अनित्य है।

३. कारणम् -- किसी के विषय में यह अनुभव, जिससे उसके विषय में यह भाव उत्पन्न हो कि वह किसी अन्य की उत्पत्ति में हेतु है, उसके विषय में कारण (cause) कहा जाता है। जैसे मिट्टी घड़े की उत्पत्ति में हेतु है, मिट्टी घड़े का उपादान कारण अथवा केवल कारण कहा जाता है। इसी प्रकार सूत वस्त्र का कारण है।

४. कार्यम्-- किसी के विषय में यह अनुभव, जिससे उसके विषय में यह अनुभव हो कि उसकी उत्पत्ति में अन्य कारण है, उसके विषय में कार्य कहलाता है। जैसे घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी हेतु है अतः घड़े के विषय में यह अनुभव हुआ कि वह मिट्टी का कार्य है। इसी प्रकार वस्त्र सूत का कार्य है।

५. नित्य-- किसी के विषय में यह अनुभव है, कि वह तीनों कालों में एकसा रहने वाला है, अर्थात् जैसा वर्तमान में है वैसा ही भूतकाल में था तथा भविष्य में भी वैसा ही रहेगा, उसके विषय में नित्यता कही जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नित्य द्रव्य स्वरूप से अपरिवर्तनशील होता है। इसका उदाहरण दिक् (space=आकाश) है।

६. द्रव्य-- द्रव्य वह है जिसके विषय में निम्न लिखित अनुभव हों--

(i) जो उपरोक्त प्रथम चार या उनमें से कुछ परिभाषा वाला हो अथवा प्रथम और पंचम परिभाषा वाला हो अर्थात् सत्तावान् एवं किसी से विशेषता रखता हो।
(ii) सामान्य विशेषवत् हो अर्थात् किसी से समानता रखता हो तथा किसी से विशेषता रखता हो।
(iii) क्रिया गुणवत् हो अर्थात् क्रिया वाला तथा गुणवाला हो अथवा क्रिया रहित गुण वाला हो। गुणरहित कोई द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि जब यह कहा जाता

हैं कि कोई द्रव्य गुणरहित है तो 'है' से प्रथम उसका सत्तावान् होना स्वीकार किया जाता है। वास्तव में लक्षण (*Characteristics*) के अभाव में किसी द्रव्य की सत्ता सिद्ध हो नहीं हो सकती। लक्षण द्रव्य के उन गुणों को कहते हैं जो उस द्रव्य को अन्यद्रव्यों से पृथक् सत्तावान् सिद्ध करते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी की सत्ता तब ही सिद्ध होगी जब उसमें कोई लक्षण हो जो उसे अन्य द्रव्यों से पृथक् सत्तावान् सिद्ध करे एतदर्थ किसी की सत्ता की सिद्धि स्वयमेव उसे गुणवान् सिद्ध करती है।

क्रियावान् होना आवश्यक गुण नहीं है, अर्थात् द्रव्य क्रियावान् न हो ऐसा तो हो सकता है किन्तु गुणरहित हो ऐसा नहीं हो सकता। प्रथम अध्याय में यह बताया जा चुका है कि फैलना, सिकुड़ना, संयोग करना, विभाग होना (*disintegrate*), टकराना, आकर्षित करना या होना, अवस्थान्तरित होना आदि क्रियाएँ हैं। दिक् (*Space*) क्रियारहित गुणवत् का उदाहरण है। यह सत्तावान् नित्य एवं द्रव्यों को ठहरने व गति हेतु स्थान प्रदान करने के गुणवाला है।

वैसे दर्शन में दिक् और आकाश पृथक्-पृथक् द्रव्य कहे गये हैं स्थान विशेष पर इन दोनों के बीच जो भेद है उसे स्पष्ट किया जायेगा।

(iv) जो समवायिकारणम्' हो – जो गुणों का आधान या आधार हो अर्थात् गुणों का आश्रयदाता हो। एक द्रव्य में कई गुण रह सकते हैं। द्रव्य और उसके आश्रित गुणों का समवाय अर्थात् अविच्छिन्न (*Inseperable*) संबंध होता है। जब तक द्रव्य का अस्तित्व रहता है तब तक गुणों का अस्तित्व भी रहता है या यह कहा जाय कि जब तक गुणों की विद्यमानता है तभी तक द्रव्य सत्तावान् है ऐसा जाना जाता है। द्रव्य और गुण साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ अन्त को प्राप्त होते हैं। द्रव्य से गुण पृथक् नहीं किये जा सकते। उदाहरण के लिये हीरा नाम के द्रव्य के साथ सफेदपन, चमक और कठोरता ये तीन गुण संबंधित हैं। जब तक द्रव्य में ये तीन गुण वर्तमान रहेंगे तब तक ही उसे हीरा नाम से जाना जावेगा किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि वस्तु हीरा रहे पर उसमें चमक या कठोरपन या सफेदपन का अभाव हो अथवा इनमें से एक से अधिक गुणों का अभाव हो।

(v) जो 'सजातीयारम्भकत्वम्' हो – द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है अर्थात् एक या अधिक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कारण या कार्य हो सकते हैं जैसे मिट्टी नाम का द्रव्य घड़े का कारण है। आक्सीजन और हाइड्रोजन नाम के द्रव्य पानी नाम के

द्रव्य के कारण हैं और पानी इनका कार्य है ।

७. गुण– वह है जिसके विषय में निम्नलिखित अनुभव हों । जो
(i) सत्तावान् हो जिसके लिये "वर्तमान में है" ऐसा प्रयोग किया जा सके किन्तु जिसका स्वतंत्र अस्तित्व न हो जो द्रव्य के आश्रय से सत्तावान् हो । गुण द्रव्याश्रयी होता है, द्रव्य से पृथक् इसका स्वतंत्र अस्तित्व देखने में नहीं आता । जैसे पीलापन किसी द्रव्य में होता है किन्तु यह स्वतंत्र रूप से उपलब्ध नहीं होता ।
(ii) नित्य हो या अनित्य हो– अर्थात् द्रव्य नित्य है तो गुण भी नित्य होगा और द्रव्य अनित्य है तो गुण भी अनित्य होगा ।

(iii) अगुणवान् हो – अर्थात् गुण का आश्रय गुण नहीं होता गुण का आश्रय द्रव्य होता है । यह तथ्य उदाहरण से स्पष्ट होगा । सोना नाम के द्रव्य में दो गुण चमक और पीलापन पाये जाते हैं अर्थात् द्रव्य सोना एक गुण चमक का आश्रय-दाता है तथा द्रव्य सोना ही द्वितीय गुण पीलेपन का भी आश्रयदाता है । प्रश्न होगा यह कैसे माना जाय कि द्रव्य सोना ही दोनों गुणों का आश्रय है । यदि कहा जावे कि चमक गुण पीलापन का आश्रय है तो क्या आपत्ति हो सकती है । यदि ऐसा हो तो जहां-जहां चमक पायी जाती है वहां-वहां पीलापन भी साथ-साथ पाया जाता किन्तु अनुभव इसके विपरीत है । इस कारण न तो चमक गुण पीलापन गुण का आधार है और न ही पीलापन गुण चमक गुण का आधार है । अतः दोनों गुणों का आश्रयदाता दोनों गुणों से भिन्न सत्ता है और इस सत्ता को ही सोना नाम के द्रव्य से संबोधित किया जाता है । निष्कर्ष यह निकला कि गुण का आश्रयदाता गुण नहीं हो सकता तो फिर एक से अधिक गुणों को आश्रय देने वाली गुणों से भिन्न सत्ता है जिसे द्रव्य नाम से पुकारा जाता है । जब केवल एक ही गुण की सत्ता प्रतीत हो तब भी वह गुण स्वयं अपना आश्रय नहीं हो सकता जिसका पूर्ण विवेचन आगे किया जायेगा अतः गुण द्रव्याश्रयी है ।

(iv) सामान्य-विशेषवत् हो– अर्थात् दो द्रव्यों में कोई गुण समान हो सकता है और कोई गुण विशेष भी हो सकता है । जैसे सोने और पीतल में पीलापन गुण समान है किन्तु चमक गुण सोने में पीतल की अपेक्षा विशेष है । इसी प्रकार दूध और चूना में सफ़ेदी गुण समानवत् है किन्तु अन्य गुण विशेषवत् है ।

(v) संयोग विभागेषु अनपेक्ष ऽकारणम् हो– अर्थात् द्रव्यों के गुण द्रव्यों के संयोग कराने अथवा पृथक् कराने में स्वतंत्र निरपेक्ष कारण नहीं हैं *(absolute cause)* इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यों का कोई भी गुण द्रव्यों के संयोग अथवा वियोग की परिस्थिति को जन्म नहीं दे सकता । यहां यह ध्यान देने योग्य है कि दो या अधिक द्रव्यों में आपस में संयोग कराने का गुण एवं क्षमता तो हो सकती है किन्तु केवल

इस गुण की मात्र सत्ता उन्हें एकत्र करके संयोग करने में स्वतंत्र रूप से कारण नहीं बन सकती। उदाहरण के लिये औषधि में रोग निवारक शक्तिरूप गुण है किन्तु केवल इस गुण के कारण औषधि अपने आप रोगी के पास नहीं पहुंच सकती अर्थात् औषधि का रोग निवारक गुण संयोग का स्वतंत्र कारण नहीं बन सकता।

इसी प्रकार आक्सीजन और हाइड्रोजन गैस आपस में संयोग करके पानी नामक द्रव्य की उत्पत्ति करती हैं यह उनका एक गुण है जिसे वैज्ञानिक भाषा में रासायनिक गुण कहते हैं, किन्तु केवल इस गुण के कारण ही आक्सीजन गैस हाइड्रोजन गैस के पास जाकर स्वयं संयोग नहीं कर सकती। वह परिस्थिति जो आक्सीजन गैस को हाइड्रोजन गैस के पास लाती है उनके परस्पर संयोग करके पानी बनाने के रासायनिक गुण से पूर्णतया भिन्न, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष है। तात्पर्य यह है कि संयोग करने का गुण संयोग हेतु सम्पर्क स्थापित करने में कारण नहीं हो सकता। आक्सीजन और हाइड्रोजन को एक दूसरे के सम्पर्क में लाने में जो अभौतिक परिस्थिति (कर्ता द्वारा प्रयोगशाला में) या भौतिक कारण (प्रकृति में) का हाथ है वह संयोग करने के उनके गुण से सर्वथा पृथक् है।

(vi) सजातीयारम्भकत्वम् हो – एक या एक से अधिक गुण दूसरे गुण का कारण हो सकता है जैसे लालपन एक गुण है और पीलापन दूसरा गुण है। उन द्रव्यों के मेल से जिनमें ये गुण हैं तीसरे गुण वसंतीपन की उत्पत्ति होती है। लालपन और पीलापन वसंतीपन का कारण हैं।

इसी प्रकार नीबू खारा होता है नीबू का रस और शक्कर मिलाने से खट्टमिट्ठापन उत्पन्न होता है। अर्थात् खारापन और मीठापन खट्टमिट्ठापन का कारण हैं।

इस प्रकार द्रव्य और गुणों के बीच जो भेद है उसे समझना आवश्यक है।

प्रश्न– द्रव्य और गुणों के बीच वियोग=विभाग (*seperation*) और संयोग= मिलान (*union*) क्यों नहीं हो सकता ?

उत्तर– द्रव्यगुणयोः संयोग विभागौ न विद्येते।

अर्थात् द्रव्य और उसके आश्रयीभूत गुणों के बीच परस्पर वियोग नहीं हो सकता। द्रव्य और उसके आश्रयीभूत गुणों का सम्बन्ध समवायी होता है। द्रव्य और उसके गुणों के बीच अविच्छिन्न (*inseperable*) सम्बन्ध होता है। जब तक द्रव्य सत्तावान् होगा उसमें उसके आश्रयी गुणों का विद्यमान होना अनिवार्य है। वास्तव में द्रव्य की सत्ता उसके गुणों के प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर है। द्रव्य का भान उसके गुणों के द्वारा ही होता है फिर भी यह कहना उचित नहीं है कि द्रव्य गुणों

का समूह है । गुणों का अस्तित्व स्वतंत्ररूप से देखने में नहीं आता । द्रव्य से पृथक् गुणों को सत्ता में नहीं पाया जा सकता । संयोग और विभाग सदैव दो भिन्न अस्तित्ववान् वस्तुओं में होता है । जैसे घड़े के साथ जल का मिलाप संयोग और घड़े से जल का पृथक् होना विभाग है । यहां घड़ा और जल दो पृथक् वस्तुयें हैं । आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिलना और पानी बनाना संयोग है तथा पानी का आक्सीजन और हाइड्रोजन में विभक्त होना विभाग है । आक्सीजन और हाइड्रोजन दो पृथक् द्रव्य हैं ये पानी के गुण नहीं हैं । दूध से दूध की सफेदी पृथक् नहीं की जा सकती । सोने से चमक और पीलापन पृथक्-पृथक् नहीं किये जा सकते ।

द्रष्टा (अनुभवकर्ता) के संपर्क में द्रव्य के आने पर जो प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया द्रष्टा के मानस पर होती है उसका विश्लेषण द्रव्य और उसके गुणों के बीच संबंध को समझने के लिये परमावश्यक है द्रष्टा (*subject*) के सामने जब कोई प्रमेय (*object*) ज्ञेय पदार्थ प्रस्तुत होता है तो वह अपनी विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (*by means of senses*) उस प्रमेय से प्रस्तुत सूचनाओं को मानसिक चेतन विश्लेषणात्मक प्रकिया द्वारा (*by means of analytical faculties of conscious mind*)विभिन्न वेदनाओं में विभक्त कर ज्ञेय वस्तु के विषय में अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति को संवेदनाओं के रूप में जानता एवं प्रकट करता है । प्रस्तुत वस्तु के विषय में चेतन मनस् की संवेदनायें नेत्र से प्रस्तुत सूचना को रूप के भाव में, कान से प्रस्तुत सूचना को शब्द के भाव में, त्वचा से प्रस्तुत सूचना को स्पर्श के के भाव में, नासिका से प्रस्तुत सूचना को गंध के भाव में तथा जिह्वा से प्रस्तुत सूचना को स्वाद के भाव में अभिव्यक्त करती हैं । चेतन (=द्रष्टा=ज्ञाता) की संवेदनाओं की यह अभिव्यक्ति ही ज्ञेय पदार्थ (=द्रव्य *object*) के विषय में गुणरूप से जानी जाती है । प्रत्येक संवेदना की अभिव्यक्ति गुण रूप से होती है तथा एक या अधिक गुणरूप में ही जानी जाती है । ज्ञाता की ज्ञानेन्द्रियों के बहुत्व के कारण एक ही प्रमेय से प्राप्त सूचनायें अनेक संवेदनाओं के रूप में अभिव्यक्त होती हैं । ज्ञाता की इन संवेदनाओं को ही विश्लेषित द्रव्य के गुण कहा जाता है । एतदर्थ ज्ञाता एवं द्रष्टा (*subject and knower*)तथा द्रव्य (*object*) के मध्य संपर्क होने से ज्ञाता में ज्ञेय के विषय में उठने वाली मानसिक संवेदना रूप ज्ञानात्मक भावों को ज्ञेय द्रव्य के गुणों की संज्ञा दी जाती है ।

उदाहरण के रूप में ज्ञाता की पांच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत सूचना के मानसिक विश्लेषण एवं समन्वय के परिणामस्वरूप प्रस्तुत द्रव्य सोना, देखने से पीला एवं चमकदार, छूने से कड़ा, सूंघने से गंधहीन, चखने से स्वादहीन है । इस प्रक्रिया में दो सत्ताओं के अस्तित्व का होना अनिवार्य है । एक सत्ता (द्रष्टा =) चेतन मनस्

है जो संवेदनाओं का साक्षी एवं अभिव्यक्ति कर्ता है तथा दूसरी सत्ता ज्ञेय (*known*) प्रमेय (*object*) की है जिसके विषय में तथा जिसकी विद्यमानता के परिणामस्वरूप ही संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है। अत: द्रष्टा के चेतन मनस् पर प्रमेय से संपर्क होने पर जिन संवेदनाओं शब्द, स्पर्श, रूपादि का उद्‌गम होता है वे द्रव्य के ही अभिन्न पहलू (*aspects*) हैं, गुण हैं वस्तुत: गुण वस्तु के अभिन्न अङ्ग है, पहलू है, वस्तु ही हैं।

प्रश्न :- द्रष्टा (=ज्ञाता) की पांच ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञेय के विषय में होने वाली संवेदनाओं से ज्ञेय जिन गुणों के रूप में जाना जाता है उनके अतिरिक्त भी गुणों का अस्तित्व है उन्हें ज्ञाता की संवेदनाओं के आधार पर कैसे समझाया जायगा। ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर ज्ञाता के पास पांच प्रकार के गुणों को जानने का साधन ही उपलब्ध है यथा देखने से, छूने से, चखने से, सूँघने से, आवाज से, किन्तु द्रव्यों के रासायनिक गुणों की अभिव्यक्ति इन पांचों प्रकार की अनुभूतियों से पृथक् है अत: यह कहना कि ज्ञाता के मनस् पर उठने वाली ज्ञानात्मक सवेदना को ही द्रव्य के गुणरूप से जाना जाता है उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिये आक्सीजन और हाईड्रोजन संयोग करके पानी बनाते हैं उनके इस रसायनिक गुण की अभिव्यक्ति का पांच ज्ञानेन्द्रियों की विश्लेषणात्मक शक्ति से कोई संबंध नहीं है अत: ज्ञाता ने इस गुण की अभिव्यक्ति इन्द्रियों के द्वारा नहीं की।

उत्तर— ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त ज्ञाता में बुद्धि (*discriminating faculty*) तथा चित्त (*memory*) शक्तियां भी हैं जिनसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण(*Analysis*)तथा समन्वय(*synthesis*)किया जाता है। अत: प्रयोगशाला में किये गये सभी परीक्षण ज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि की सीमा में आ जाते हैं। द्रष्टा द्वारा एकत्र किया गया ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान के विवेचन पर आधारित है।

उपरोक्त उदाहरण निम्नलिखित विवेचन का परिणाम है - सर्वप्रथम परीक्षण अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा आक्सीजन एवं हाइड्रोजन के अस्तित्व को सिद्धि हुई।

द्वितीय आक्सीजन एवं हाइड्रोजन के संयोग के अनन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा दोनों का अभाव सिद्ध हुआ। तृतीय प्रत्यक्ष परीक्षण द्वारा नये द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध हुआ। चतुर्थ पूर्व परीक्षित उपमान प्रमाण द्वारा यह सिद्ध हुआ कि नया सत्तावान् द्रव्य पानी है।

पंचम अनेक प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर द्रष्टा की यह धारणा है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है यह अर्थापत्ति प्रमाण है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवों के समन्वय के आधार पर द्रष्टा इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि आक्सीजन हाइड्रोजन का संयोग पानी का कारण है।

प्रश्न :– यदि गुण द्रव्य के पहलू ही हैं, द्रव्य के अभिन्न अङ्ग हैं तो द्रव्य और गुणोंको पृथक् नाम देने की क्या आवश्यकता है। जैसा कि वर्कले महोदय का मत हैं कि द्रव्य(*substance*) नाम की आश्रयभूत एवं आधारमूलक वस्तु (*background substratun*) मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। द्रव्य केवल गुणों का समूह मात्र है। गुणों से भिन्न पदार्थ (द्रव्य) की कल्पना करना व्यर्थ है।

उत्तर :– वर्कले महोदय का मत कि द्रव्य गुणों का संगठन मात्र है उचित नहीं हैं। संगठन उसे कहते हैं जो पृथक्-पृथक् सत्ताओं को एक सूत्र में बांधकर एकत्र करें। जैसे वस्त्र धागों का संगठन मात्र हैं, वस्त्र में वास्तविक सत्ता धागों की है। संगठित वस्तु से उसके अवयव पृथक् करना सम्भव होता है जैसे वस्त्र से धागे पृथक् किये जा सकते हैं। इसी प्रकार पानी से उसके अवयव आक्सीजन और हाइड्रोजन पृथक् किये जा सकते हैं।

द्रव्य का उसके गुणों के साथ समवाय संबंध है। द्रव्य से गुण पृथक् नहीं किये जा सकते। गुण स्वतत्र रूप से अस्तित्व में नहीं पाये जाते फिर जिसका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं उसके समूह की बात करना युक्ति युक्त नहीं है।

जैसे हीरा के गुण चमक, सफेदी, कड़ापन आदि स्वतंत्ररूप से पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं हैं फिर जो स्वतंत्ररूप से प्राप्त नहीं होते उनका संगठन कैसे किया जा सकता है। अत: यह कहना उपयुक्त नहीं है कि हीरा चमक, सफेद, कड़ापन, आदि गुणों का समूह है वरन् यह कहना ही ठीक है कि हीरा नामक द्रव्य चमक, सफेदी आदि का आश्रय है।

यदि द्रव्य गुणों का संगठन होता तो गुण अलग रूप में प्राप्त होता और रसायन शास्त्र द्रव्यों से द्रव्य की उत्पत्ति न करता वरन् गुणों से द्रव्य की उत्पत्ति करता। तब रसायन शास्त्र तत्वों की गणना पर आधारित न होकर गुणों की गणना पर आधारित होता। पर रसायनशास्त्र बताता है कि द्रव्य अणु परमाणुओं का संगठन है न कि गुणों का। अत: यह कल्पना निराधार है।

प्रश्न :– गुण संवेदना से ज्ञात होते हैं अत: पदार्थ संवेदना का पुञ्ज (*bundle of sensations*) है। अत: केवल मनस् अर्थात् चेतन द्रष्टा (*subject*) की ही सत्ता क्यों न मानी जाय। भौतिक सत्ता मानसिक सत्ता का ही रूप है अर्थात् चेतन मन या चेतन द्रष्टा के अतिरिक्त किसी बाह्य भौतिक पदार्थ की सत्ता

नहीं है । दृष्टि ही सृष्टि है द्रष्टा ही सृष्टि निर्माता है । चेतन के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है यह वर्कले महोदय का आत्मवाद (*subjectivism*) है ।

उत्तर :– इसका उत्तर है "न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः" सांख्य १।४२ जगत केवल विज्ञानमात्र अर्थात् मानसिक चेतना का ही रूप नहीं है इसकी मन से वाहर सत्ता है ।

यह ठीक है कि गुण द्रष्टा (*subject*) की वेदना से ज्ञात होता है । द्रष्टा में जो इन्द्रिय जन्य विश्लेषणात्मक चेतन शक्तियां हैं वे ही पदार्थ के मूर्तरूप को संवेदनाओं में विभक्त कर ज्ञेय पदार्थ के विषय में चेतन के ज्ञान की अभिव्यक्ति संवेदनाओं के रूप में करती हैं । प्रत्येक संवेदना ज्ञेय पदार्थ के विषय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति है जो ज्ञेय पदार्थ के गुणरूप में जानी जाती है ।

यदि वर्कले महोदय का मत स्वीकार किया जाय कि बाह्य भौतिक सत्ता मानसिक चेतना का रूप है तो प्रश्न उठता है कि आन्तरिक मानसिक संवेदनाओं के पुञ्ज बनाने का आधार क्या है । यदि मानसिक चेतना को वह आधार माना जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या मानस पटल पर उठे संवेदनाओं के पुञ्ज चेतन मन की स्वेच्छा पर निर्भर हैं यदि ऐसा होता तो दृश्य जगत द्रष्टा की स्वेच्छा से निर्मित होता द्रष्टा की सृष्टि होता, किन्तु वास्तविकता इस अनुभव के विपरीत है कि ज्ञाता (अनुभव कर्ता या द्रष्टा) की ज्ञेय वस्तु (प्रमेय = *object*-) के विषय में जो संवेदनायें हैं वे उसकी स्वेच्छा से सर्वथा स्वतंत्र एवं निरपेक्ष हैं चेतना के ऊपर वे संवेदनायें प्रतिरोपित हैं । उन्हें स्वीकार करने के अतिरिक्त उसके पास कोई अन्य विकल्प नहीं है । मनस् यदि स्रष्टा होता तो वह नगरों का, पहाड़ों का ही क्या सूर्य, चन्द्र और सितारों का भी स्वेच्छा से सृजन करता । अतः यह मानना पड़ता है कि चेतन मन की इच्छा से सर्वथा स्वतंत्र चेतन के मानस पटल पर संवेदनाओं के पुञ्ज वनाने का आधार कोई बाह्य सत्ता ही है । इसी बाह्य सत्ता को प्रमेय, ज्ञेय, दृश्य आदि नामों से पुकारा जाता है । इस बाह्य सत्ता की उपस्थिति के कारण भूत चेतना में उठने वाले सवेदनाओं के पुञ्ज की इस बाह्य सत्ताके गुणों के रूप में अभिव्यक्ति होती है । अस्तु ज्ञाता से पृथक् ज्ञय वस्तु ही ज्ञाता में होने वाली संवेदनाओं का आधार है यही कारण है कि संवेदनायें द्रष्टा की स्वेच्छा से सर्वथा मुक्त हैं तथा वे बाह्य कारण पर आधारित हैं । अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है द्रष्टा ही स्रष्टा नहीं है वरन् ज्ञाता, ज्ञेय, द्रष्टा, दृश्य दो स्वतंत्र निरपेक्ष सत्तायें हैं ।

वर्कले महोदय के मत के अनुसार सोना उन संवेदनाओं का पुञ्ज है जो क्रमशः पीलापन, चमक, कड़ापन, आदि की अभिव्यक्ति करती हैं ये सवेदनायें पर-

स्पर पृथक् हैं अर्थात् पीलापन का भाव उत्पन्न करने वाली 'संवेदना चमक के भाव की अभिव्यक्ति करने वाली संवेदना से पृथक् है क्योंकि प्रत्येक पीलेपन का भाव की अभिव्यक्ति करने वाली संवेदना के साथ चमक की संवेदना की अभिव्यक्ति नहीं होती। यदि द्रष्टा ही स्रष्टा होता और चेतन मन के अतिरिक्त संवेदनाओं के सृजन में किसी बाह्य सत्ता का हाथ न होता तो पीतल के पीलेपन की संवेदना के साथ चमक की संवेदना संयुक्त करने में चेतन स्रष्टा को कोई बाधा न होती, चेतन स्रष्टा इस हेतु पूर्ण रूप से स्वतंत्र होता और उसकी इच्छा भी अनियन्त्रिक होती किन्तु यथार्थ इसके विपरीत है। एक विशेष परिस्थिति में ही, जो द्रष्टा की इच्छा से पूर्ण स्वतंत्र व निरपेक्ष है, द्रष्टा चमक और पीलेपन की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति संयुक्त रूप से करता है और यह परिस्थिति है सोना नाम की वस्तु का द्रष्टा के सामने मौजूद होना। अतः वाह्य दृश्य पदार्थ की, प्रमेय (*object*) की सत्ता स्वीकार करना पड़ती है। इसी बाह्य सत्ता के संपर्क से चेतन मनस् पर जो संवेदनायें उठती हैं वे चेतना के द्वारा बाह्य सत्ता के विश्लेषण के परिणामस्वरूप उद्भूत हुई बाह्य सत्ता के गुणों की अभिव्यक्ति हैं।

पुनः इस विषय में एक और युक्ति विचारणीय है पृथक्-पृथक् द्रष्टा चेतन मनस् (*distinct subjects*) में स्वतंत्ररूप से विचारों का उद्गम देखा जाता है। जब एक सुखी है तो यह आवश्यक नहीं कि शेष सभी चेतन मनस् सुखी हों वरन् उनमें से अनेक दुखी हो सकते हैं। एक कहता है कि प्रजातंत्र ठीक है तो दूसरा कहता है कि समाजवाद ठीक है तो तीसरा कहता है कि एकतन्त्र ठीक है। तात्पर्य यह है कि बाह्य सत्ता के अभाव में तो चेतन मनस् विचार स्वातंत्र्य का उपभोग कर स्वतंत्र विचार स्रष्टा हैं किन्तु यही बात बाह्य सत्ता की मौजूदगी में सत्य नहीं है। बाह्य सत्ता की मौजूदगी में वही चेतन सत्ताएँ विचार स्रष्टा नहीं केवल द्रष्टा मात्र रह जाती है इस विषय में यह युक्ति विचारणीय है —

परिणामैकत्वाद् वस्तु तत्वम्। योग सूत्र ४।१४

पृथक्-पृथक् द्रष्टाओं का (बाह्य सत्ता की मौजूदगी में) मतैक्य होकर यह साक्षी देना कि यह वस्तु (सोना, पीतल आदि) अमुक है उस बाह्य वस्तु के अस्तित्व को सिद्ध करता है। स्वतंत्र चेतन सत्ताओं की परतन्त्रता का कोई कारण है जो उनकी इच्छा के परे है इसी कारण सभी स्वतंत्र सत्तायें मतैक्य होने के लिये बाध्य हैं। अस्तु चेतन सत्ताओं से पृथक् एवं सर्वथा स्वतंत्र बाह्य द्रव्य की सत्ता निर्विवाद सिद्ध होती है।

यही बाह्य सत्ता पृथक्-पृथक् द्रष्टाओं में संवेदनाओं का स्थिर आधार, है जो चेतन सत्ताओं की इच्छा शक्ति से परे है। यही स्थिर आधार, चेतन द्रष्टाओं से स्वतंत्र

निरपेक्ष सत्ता है जिसे द्रव्य = दृश्य अथवा ज्ञेय के नाम से पुकारा जाता है। इसके संबंध में चेतन सत्ताओं में उत्पन्न स्थिर संवेदनाओं की अभिव्यक्ति जिसमें मतैक्य है द्रव्य एवं ज्ञेय के गुण रूप से जानी जाती हैं। चेतन सत्ता की संवेदनाओं में परिवर्तन का कारण द्रष्टा नहीं (बाह्य पदार्थ की उपस्थिति में) दृश्य है, ज्ञाता नहीं ज्ञेय है। जैसे सोना नाम के बाह्य सत्ता (= द्रव्य) की मौजूदगी में द्रष्टा में जिन संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है सोना द्रव्य के स्थान पर हीरा नाम की बाह्य सत्ता (= द्रव्य) के प्रस्तुत किये जाने पर नवीन संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है जो पूर्व संवेदनाओं से भिन्न हैं। अतः ज्ञेय = द्रव्य की अनेकता एवं पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार करना पड़ती है। अस्तु द्रष्टा एवं ज्ञाता (= चेतन मनस् = अनुभवकर्ता) से बाह्य, सर्वथा स्वतंत्र एवं निरपेक्ष, सत्ताओं का, जिन्हें द्रव्य कहते हैं और जिनकी समष्टि सत्ता को बाह्य जगत् कहते हैं, अस्तित्व सिद्ध होता है।

इस अध्ययन में हुई मीमांसा से निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्थापित हुए।

१. द्रष्टा सत्तावान्, चित्तरूप, विचारवान् एवं साक्षी है। यहां चेतन शब्द का प्रयोग भी मानसिक एवं वैचारिक शक्ति से निहित सत्ता के लिये किया गया है।

२. द्रव्य के मनस् पर स्थिर संवेदनायें उत्पन्न होती हैं जिनका आधार दृश्य एवं बाह्य सत्ता है जो द्रव्य की संज्ञा से विभूषित है।

३. द्रष्टा और दृश्य (= द्रव्य के) बीच सम्पर्क का माध्यम द्रष्टा की इन्द्रियां हैं जिनके द्वारा भेजे गये संकेत व संदेश द्रष्टा के मनस् पर संवेदनाएँ उत्पन्न करते हैं। ये संवेदनायें विचार रूप में द्रष्टा के मनस् पर द्रव्य के विषय में एकत्र ज्ञान ही है जो द्रव्य के गुण रूप से जाना जाता है।

४. द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय दो पृथक स्वतंत्र सत्तायें हैं।

५. द्रव्य की समष्टि सत्ता, जिसे जगत कहते हैं, सत्तावान् है अर्थात् उसका वर्तमान में होना सिद्ध होता है।



अध्याय ३

सत् असत् मीमांसा

इस अध्याय में सत् - असत् की मीमांसा के तारतम्य में विषय से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया जायेगा। सत्, असत् की निर्दोष धारणा तत्व दर्शन की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि है। उत्पत्ति, विनाश, अनादि, अनन्त आदि भावों का तत्व दर्शन में महत्वपूर्ण योगदान है इन भावों का इस अध्याय में विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

असत्– असत् की परिभाषा हम इस सूत्र के द्वारा करेंगे -

नासतो विद्यते भावो – असतः भावः न विद्यते।

असत् वह है जिसका अस्तित्व कभी नहीं होता। सूत्र काल से निरपेक्ष है अतः सूत्र में यह तथ्य निहित है कि असत् वह है जिसका अस्तित्व तीनों कालों में नहीं होता। वह जो न तो भूतकाल में सत्ता में था, न वर्तमान में सत्ता में है तथा न भविष्य में सत्ता में होगा - असत् की संज्ञा से कहा जाता है। स्मरण रहे कि काल के किसी एक विभाग में भी यदि किसी सत्ता का अस्तित्व है तो वह सत्ता असत् की परिभाषा में नहीं आती। जैसे कोई सत्ता भूतकाल में थी किन्तु वर्तमान में नहीं है ऐसा द्रव्य असत् नहीं है क्योंकि भूतकाल में भाव होने से तीनों कालों में अभाव नहीं है। इसी प्रकार कोई सत्ता, जो भूतकाल में नहीं थी किन्तु वर्तमान में है, अथवा वर्तमान में है किन्तु भविष्य में न रहेगी असत् नहीं है, वर्तमान में सत्तावान होने से।

तीनों कालों में होने वाले अभाव को अत्यन्ताभाव (*absolute negation*) कहते हैं अतः असत् वह है जिसका अत्यन्त-अभाव हो। ध्यान रहे कि यहां यह नहीं कहा जा रहा है कि जो असत् नहीं है वह सत् है। यहां केवल असत् क्या है इसकी मीमांसा की गई है। असत् तीनों कालों में सत्तावान नहीं होता अतः तीनों कालों में से किसी एक काल में भी वह अनुभव का विषय नहीं हो सकता। किसी एक काल में भी जो अनुभव का विषय है वह उस काल में सत्ता में है अन्यथा अनुभव का विषय कैसे होगा। अतः वह असत् नहीं है।

प्रश्न– स्वप्न का अनुभव स्वप्नावस्था में होता है जाग्रतावस्था में स्वप्न का अभाव होता है, किन्तु जाग्रतावस्था से सापेक्ष भूतकाल (स्वप्नकाल) में स्वप्न का भाव था, स्वप्न अनुभव का विषय था अतः स्वप्न के दृष्टांत से उपरोक्त मीमांसा असिद्ध होती है तथा असत् भी एक काल में अनुभव का विषय हो सकता है जैसा कि श्रीमद गौड़पादाचार्य जी ने माना है यथा।

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ॥ २।२

काल के अल्प होने से स्वप्नावस्था में द्रष्टा शरीर के बाहर जाकर स्वप्नगत पदार्थों को नहीं देखता तथा जाग्रत होने पर उस देश में कुछ भी विद्यमान नहीं रहता, इस कारण स्वप्न दृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं ।

उत्तर– स्वप्न को असत् मानना ही भूल है । स्वप्न का अस्तित्व स्वप्नकाल में होता है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । अत: किसी एक काल में सत्तावान् होने से स्वप्न असत् की परिभाषा में नहीं आते । स्वप्न को मिथ्या कहने का कारण स्वप्न के विषय में भ्रमपूर्ण धारणा का होना है । इस तथ्य का पूर्ण विवेचन आवश्यक है ।

स्वप्न में ही क्या जब कोई व्यक्ति आंख बन्द करके ध्यान करता है तो उसके मन में अनेक विचार उठते हैं जो व्यवस्थित भी होते हैं अव्यवस्थित भी । ध्यान के भंग होने पर चेतन द्रष्टा मानस पटल पर उठे विचारों की साक्षी प्रस्तुत करता है। इसमें असत् कुछ भी नहीं है । क्या ध्यानकाल में उठे विचारों का अस्तित्व झूठा (मिथ्या) है । यदि नहीं तो स्वप्नकाल में उठे विचारों की सत्ता भी मिथ्या नहीं है। मिथ्या का अर्थ है जो घटित न हुआ हो उसकी साक्षी देना । बात यह है कि ध्यान और स्वप्न में थोड़ा सा अन्तर है । स्वप्नावस्था में बुद्धि वृत्ति के लोप हो जाने से चेतन द्रष्टा तर्क की शक्ति से रहित हो जाता है । तब उसके मन पर पूर्व स्मृति के कारण अव्यवस्थित विचारों का प्रतिरोपण होता है अर्थात् विचारों का उद्गम अनैच्छिक होता है । ये विचार अव्यवस्थित होते हैं क्योंकि इनकी व्यवस्था करने वाली बुद्धि वृत्ति का अभाव होता है । मानस पटल पर उठे इन विचार तरंगों को द्रष्टा चित्र की भांति देखता है ।

ध्यानावस्था से स्वप्नावस्था का यही अन्तर है कि स्वप्नावस्था में बुद्धि वृत्ति का लोप हो जाता है । दोनों अवस्थाओं में विचार उठते हैं एक अवस्था में व्यवस्थित दूसरी अवस्था में अनियंत्रित । ध्यानावस्था या स्वप्नावस्था के भंग होने के अनन्तर द्रष्टा उक्त अवस्थाओं में घटित हुए सत्य को अर्थात् मानस पटल पर उठे विचारों का स्मरण करता है इसमें मिथ्या क्या है ? क्या द्रष्टा ने जो नहीं देखा उसके विवरण को प्रस्तुत किया ? यदि नहीं, तो फिर द्रष्टा ने स्वप्नावस्था के अन्तर्गत उसके मानस पटल पर उठे विचारों का यथावत् विवरण दिया इसमें असत् या मिथ्या कुछ भी नहीं है । हां, ये द्रष्टा के मानस पटल के विचार मात्र थे, इन विचारों का वास्तविक जगत में वास्तविक रूप से घटित होने की सम्भावना करना ही एक गलत धारणा है । क्या मानस पटल पर उठे विचारों की परिणति

वास्तविकता में होना चाहिये। भला मानस पटल पर उठे विचार चाहे जाग्रतावस्था में हों या स्वप्नावस्था में हों, वास्तविक घटना का रूप कैसे ले सकते हैं। विचार कल्पना तक ही सीमित रहे यही वास्तविकता है अन्यथा कल्पना तथा वास्तविक घटना का भेद समाप्त हो जावेगा।

वैशेषिक दर्शन में स्मृति व स्वप्न के विषय में निम्नलिखित विवेचन किया है-

आत्ममनसो: संयोग विशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः। ९।२।६ (आत्मा =)चेतन द्रव्य तथा मन के संयोग विशेष अर्थात् इच्छापूर्वक संयोग से तथा (संस्कार =) पूर्व दृष्ट एवं श्रुतवस्तु विषयक अन्तर्निहित ज्ञान के आभास की पुनरावृत्ति से स्मृति होती है। स्मृति का संस्कार चित्त में होता है। भूतकाल में हुए किसी वस्तु विषयक ज्ञानाभास का वर्तमान में सन्मुख आ जाना तथा उस वस्तु के स्वरूप, गुण, धर्म स्वभाव क्रिया आदि का मन में चित्र खिंच जाना स्मृति हैं। यह जाग्रतावस्था में होती है। जाग्रत में मन की बहिर्मुखी वृत्ति होने के कारण मानस पटल के भाव विचार रूप ही रहते हैं उसी प्रकार

तथा स्वप्नः।९।२।७

स्वप्न भी है अर्थात् चेतन द्रष्टा के मन के साथ संयोग विशेष से अर्थात् इच्छा रहित संयोग से पूर्वदृष्ट वस्तुओं का ज्ञानाभास होता है मन की अन्तर्मुखी वृति होने के कारण मन चित्त पर अंकित संस्कार से अनन्य भाव से, एकाग्रता से संलग्न रहता है इस कारण संस्कार पूर्णरूप से मुखरित हो मन द्वारा अत्यधिक स्पष्टरूप में ग्राह्य होते हैं। इस प्रकार संस्कारों की अभिव्यक्ति चित्ररूप में हाती है द्रष्टा मन सहित चित्त के ऊपर अंकित चित्रों की खुलती हुई रील का दर्शक होता है किन्तु बुद्धि वृत्ति के अभाव में मन के अनियंत्रित एवं अधिक चलायमान होने के कारण यह स्मृति अव्यवस्थित स्वप्नरूप में होती है। जाग्रत में जिसे स्मृति कहते हैं निद्रा में उसीको स्वप्न कहते हैं दोनों ही मानसिक व्यापार हैं जाग्रत में मन का ध्यान बाह्य विषयों में केन्द्रित रहता है अतः चित्त पर आये संस्कार को एकाग्रता से नहीं देखता इस कारण संस्कार विचाररूप रहता है चित्ररूप में नहीं उभरपाता। अतः भेद केवल इतना है कि जाग्रत में द्रष्टा की इच्छा पूर्वक कल्पना व्यवस्थित होती है स्वप्न द्रष्टा की अनैच्छिक अव्यवस्थित स्मृति का तारतम्य है।

प्रश्न– स्वप्न जिस प्रकार द्रष्टा की सृष्टि है यह जगत भी द्रष्टा की सृष्टि है

समीक्षा – स्वप्न द्रष्टा की सृष्टि नहीं है यदि द्रष्टा की सृष्टि होती तो वह अपनी इच्छानुसार स्वप्न का सृजन करता किन्तु स्वप्न में द्रष्टा परवश हुआ बलात्, लादे

गये अनैच्छिक दृश्य देखता है अतः स्वप्न द्रष्टा की सृष्टि नहीं है। ध्यान रहे यह सत्य विख्यात है कि जन्मान्ध को रूप का स्वप्न नहीं होता। यदि द्रष्टा—चित्त स्रष्टा होता तो जन्मान्ध को भी स्वप्न होता। अतः स्वप्न सृजन नहीं है वरन् अनैच्छिक स्मृति मात्र है।

महान साहित्यकार शेक्सपियर ने भी प्रकारान्त से यही बात कही है — *dreams are the children of an idle brain begot of vain fantasy* स्वप्न बिगड़े हुए बच्चे हैं जो अस्वस्त कल्पना से प्रादुर्भूत होते हैं।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार जाग्रत में नेत्र से बाह्य दिखाई देते हैं उसी प्रकार नेत्रों को बद कर ध्यान करने पर अपने विचार मानस पटल पर चित्र रूप में दिखाई देते है यही बात स्वप्नावस्था में होती है। ध्यान के समय आने वाले विचारों को हम अवास्तविक नहीं कहते क्योंकि उन विचारों की वास्तविकता मे परिणति होने की अपेक्षा नहीं होती। पुनः स्वप्नावस्था में आने वाले विचारों की वास्तविकता में परिणति होने की अपेक्षा करना कहां तक युक्ति संगत है। मानसिक जगत के व्यापार कल्पना तक ही सीमित रहें यही वास्तविकता है। स्वप्न के मानसिक व्यापारकी वास्तविक घटना मे परिणति हो यह स्वयं अवास्तविकता है। स्वप्न में शेर की कल्पना हुई तो क्या शयन कक्ष में शेर उपस्थित हो जाना चाहिये अतः कल्पना का मानसिक विचार तक सीमित रहना तथा वास्तविक घटना में परिणत न होना ही सत् है।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि स्वप्न मानसिक व्यापार है यह जाग्रत अवस्था के संस्कार का प्रतिफल है यही कारण है कि विभिन्न भाषी स्वप्न में अपनी अपनी भाषा में वार्तालाप करते हैं। स्वप्न की भाषा का माध्यम हिन्दुस्तानी का हिन्दी अग्रेज का अग्रेजी, जर्मन का जर्मन भाषा, फ्रेन्च का फ्रेन्च भाषा होता हैं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि स्वप्न हमारे जाग्रत के व्यवहार का मानस पटल पर हुआ सस्कार मात्र हैं। अतः स्वप्न मानसिक क्रिया है मानसिक क्रिया का विचार के दायरे तक सीमित रहना ही वास्तविकता है, मानसिक क्रिया का वास्तविकता घटना में परिणत होना जादू या माया कहा जा सकता है।

जब आप यह कहते हैं कि स्वप्न मिथ्या इसलिये है कि उसमें वस्तु की उपलब्धि नहीं होती तो आप स्वयं यह स्वीकार कर रहे हैं कि जाग्रत अवस्था में वस्तु उपलब्ध होती है तो फिर दोनों अवस्थाओं में वास्तविक भेद है एक में उपलब्धि होने और दूसरी अवस्था में उपलब्धि न होने से। तब जगत को स्वप्नवत् कहना दोषपूर्ण है गलत है। यदि कहो कि स्वप्न की उपलब्धि स्वप्न काल में होती है

जाग्रत की उपलब्धि जाग्रत काल में तो भी मान्य नहीं है। स्वप्न की उपलब्धि परीक्षित नहीं है परीक्षा करने वाली बुद्धि करण के न होने से जबकि जाग्रत अवस्था की उपलब्धि परीक्षित है न केवल द्रष्टा के द्वारा वरन् अन्य द्रष्टाओं की साक्षी से। जब सभी द्रष्टा एक मत से कहते हैं कि यह वृक्ष है तब ही वह वृक्ष माना जाता है इस प्रत्यक्ष ज्ञान में अविरोध है। स्वप्न प्रत्यक्षवत् सिद्ध नहीं है। दोनों का भेद सभी को मान्य है।

वेदान्त सूत्र के शंकराचार्य जी कृत भाष्य में भी उपरोक्त तथ्यों को यथावत् स्वीकार किया गया है। अध्याय २ के द्वितीय पाद २९वें सूत्र वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् का शांकर भाष्य निम्नानुसार है : —

और विरुद्ध धर्मी होने से स्वप्नादि के ज्ञान के समान (बाह्य पदार्थ के अवलंबन विना) जाग्रत अवस्था का ज्ञान नहीं होता।

दोनों अवस्थाओं के धर्म परस्पर विरोधी हैं इसलिये इनमें बाध और अबाध रूप वैधर्म्य है। स्वप्न में प्राप्त हुई वस्तु का जाग्रत में बाध (अप्राप्ति) हो जाता है परन्तु जाग्रत अवस्था में प्राप्त हुई वस्तु का बाध नहीं होता। स्वप्न के पदार्थ स्मृति से दिखाई देते हैं जबकि जाग्रत अवस्था के पदार्थ प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं के भेद का अनुभव सभी को होता है, इसलिये जाग्रत अवस्था के अनुभव को मिथ्या नहीं कह सकते, क्योंकि वह अनुभव सिद्ध ज्ञान है। इसी प्रकार स्वप्न का भी ज्ञान है. पर दोनों ज्ञान की सादृश्यता से जाग्रत के ज्ञान को निराधार कहना असंगत है क्योंकि सादृश्यता होने से एक का धर्म दूसरे में नहीं आता।

(ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्यानुवाद)

इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी ने यह स्वीकार किया है कि स्वप्न स्मृति मात्र है जबकि जाग्रत अनुभव सिद्ध है। स्वप्न की घटना स्मृति की घटना है विचार मात्र है जबकि जाग्रत अवस्था की घटना मानव की बुद्धि के तर्क वितर्क से परीक्षित प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। अत: दोनों अवस्थाओं मे भेद है स्वप्न में बुद्धि का अभाव है अन्यथा यह तर्क होना चाहिये कि हमारा मन रात्रि को विस्तर पर सोने के अनन्तर स्मृति में, ख्याल में भटक रहा है। किन्तु यह ज्ञान स्वप्नावस्था में नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में मानसिक विचार की सादृश्यता पर जाग्रत के ज्ञान को निराधार नहीं कह सकते क्योंकि यह बाह्य पदार्थों की सत्ता पर आधारित है जबकि स्वप्न केवल स्मृति पर आधारित है। स्वप्नावस्था के अनन्तर जाग्रतावस्था होती है किन्तु जाग्रतावस्था के अनन्तर कोई अन्य अवस्था नहीं होती जिसमें जाग्रत

अवस्था का उन्मूलन हो जावे। स्वप्न देखते हुए व्यक्ति पर यदि प्रहार हो जावे तो उसे जो आघात होगा वह वास्तविक होगा किन्तु स्वप्न में देखा हुआ वैसा ही आघात कल्पना तक सीमित रहता है अतः स्वप्न व जाग्रत में भेद स्पष्ट है।

सूत्रकार भगवान् व्यास ने सूत्र में 'आदिवत्' शब्द का प्रयोग रज्जु में सर्प, सीप में चांदी, मृगतृष्णा में जल आदि परंपरागत उदाहरणों का निराकरण करने के लिये किया है क्योंकि इन उदाहरणों मे भी स्वप्न की भांति जाग्रत से वैधर्म्य है विपरीत व्यवहार इस बात में है कि रज्जु मे सर्प वास्तविकता नहीं है सीप में चांदी वास्तविकता नहीं है बोध के उदय होने पर जैसे स्वप्न की उपलब्धि नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य जी ने वाह्य वस्तु की सत्ता अर्थात् जगत् की सत्ता को माना है। बौद्ध दर्शन के आचार्य सुगत ने बाह्यर्थवाद, विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के रूप में तीन वादों का प्रतिपादन किया था। इनको पूर्वपक्ष में लेते हुए शंकराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य (अ. २ पाद २) में इनका खण्डन किया है। बाह्यार्थवाद एवं विज्ञानवाद का पक्ष संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है –

इस वाद के अनुसार प्रमाण प्रमेय तथा फल विशुद्ध मानसिक व्यापार हैं बाह्य अर्थ का (वाह्य पदार्थों का) कोई अस्तित्व नहीं है। उनकी युक्ति इस प्रकार है —

स्वप्न में गंधर्वनगर आदि का ज्ञान बाह्य अर्थ के बिना ही होता है वैसे ही जाग्रत अवस्था में स्तम्भादि का ज्ञान होना चाहिये। यदि कहें कि बाह्य अर्थ के न होने पर भिन्न-भिन्न ज्ञान की प्रतीति कैसे होती है तो वे कहते हैं कि उसका कारण वासना की विलक्षणता ही है स्वप्नावस्था में अर्थ (बाह्य पदार्थ सत्ता) के बिना भी ज्ञान की विलक्षणता का हेतु वासना है इससे भी वाह्य अर्थ का अनुभव सिद्ध होता है।

उपरोक्त की असिद्धि में शंकराचार्य जी द्वारा प्रस्तुत तर्क इस प्रकार है —

स्तभ या भित्ति ही ज्ञान नहीं है वरन् वे ज्ञान के विषयरूप हैं इसीलिये उन्हें उसी प्रकार जाना जाता है। घट ज्ञान में और पट ज्ञान में उनके विशेषण का ही भेद है विशेष्य ज्ञान में भेद नहीं है। जैसे कि श्वेत गाय और काली गाय में श्वेतता और कृष्णता का भेद तो हैं पर गोत्व में भेद नहीं हैं।

(सूक्त २८, द्वि. अ. । द्वि. पाद)

इसका भाव यह है कि घट ज्ञान और पट ज्ञान में विषय एक ही है वह है रूप ज्ञान दोनो ज्ञानों में भिन्नता का कारण बाह्य वस्तु की सत्ता का होना है। शंकराचार्य जी

की इस युक्ति का तो पूर्व पक्षी ने पहले से ही उत्तर दे रखा है कि स्वप्नवस्था के समान बाह्य अर्थ के अभाव में भिन्न-भिन्न ज्ञान की प्रतीति का कारण वासना है।

शंकराचार्य जी आगे कहते हैं — यदि कहो कि विज्ञान (=ज्ञान) का तो अनुभव होता है तो हम कहेंगे कि बाह्य अर्थ का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यदि कहो विज्ञान में प्रकाशात्मकता होने के कारण उसका अनुभव स्वयं होता है पर बाह्य अर्थ का वैसा नहीं होता तो कहना होगा कि विषय से भिन्न विज्ञान अपना स्वयं अनुभव नहीं कर सकता। दीपक के समान विज्ञान को अन्य प्रकाशक पदार्थ की अपेक्षा नहीं है यह कहना अप्रमाणिक है इसलिये उसे स्वयं प्रकाश आदि भी नहीं कह सकते क्योंकि वह तो उत्पन्न होने वाला, नाशवान् और अनेकत्व वाला है। इस प्रकार शंकराचार्य जी ने विज्ञानवाद के खन्डन में ज्ञान को बाह्य अर्थ (शब्द, स्पर्शादि) की सापेक्षता वाला माना है अर्थात् बाह्य द्रव्य (जो बाह्य अर्थ का आश्रय है) की सत्ता को स्वीकार किया है। आगे सूत्र —

न भावो ऽनुपलब्धे। ३०

का भाष्य करते हुए कहते हैं

वाह्य वस्तु की अनुपलब्धि (के बिना) से वासना की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थ के बिना वासना नहीं हो सकती इस अन्वय व्यतिरेक (विपरीत तर्क) से बाह्य अर्थ की सत्ता सिद्ध होती है। यथार्थ में वासना तो एक प्रकार का संस्कार बाह्य वस्तु के आश्रय के बिना हो नहीं सकता इसलिये यही मानना युक्त है कि बाह्य वस्तु के अभाव में वासना की उत्पत्ति संभव नहीं है।

इस प्रकार शंकराचार्य जी ने स्वप्न को जाग्रत अवस्था में दृश्य जगत के संसर्ग के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए संस्कार की प्रतिच्छाया माना है।

सत्–सत् की व्याख्या के लिये यह सूत्र है —

नाभावो विद्यते सत: (सत: अभाव: न विद्यते)

सत् का अभाव नहीं होता। सूत्र काल से निरपेक्ष है अत: सत् वह है जिसका अभाव तीनों कालों में नहीं होता। सत् द्रव्य काल की गति का अतिक्रमण करता हुआ सदा एकसा रहना है। अवस्थाओं से रहित होता है। इस लक्षण को दर्शाने हेतु सत् को नित्य कहा जाता है काल की सत्ता अनित्य पदार्थों की सापेक्षता से है नित्य से नहीं। नित्य के लिये भूतकाल, वर्तमान या भविष्य नहीं होता नित्य द्रव्य के लिये तो केवल यह कहना पड़ता है कि वह "है"।

भाव और अभाव विपरीत परिस्थतियां हैं अतः जिसका सदैव भाव होगा उसका (न होना) कभी संभव नहीं है।

प्रश्न — यह संसार उत्पत्ति के पूर्व नहीं था, विनाश के पश्चात् नहीं रहेगा अतः वर्तमान में भी इसका अभाव मानना चाहिये। इसमें गौड़पादाचार्य जी की युक्ति प्रमाण है यथा: आद्यन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने ऽपि तत्तथा।

जो आदि में न हो और अन्त में न रहे वह वर्तमान में भी नहीं है।

समीक्षा — इस युक्ति की जांच करने के लिये एक उदाहरण पर विचार किया जायेगा। मान लीजिये एक व्यक्ति बनारस से दिल्ली जाने के लिये ट्रेन पर बैठा। सफर दरमियान टिकिट चैकर आया तो उसने (व्यक्ति ने) यही दलील दी कि बनारस के पूर्व वह ट्रेन पर नहीं था और दिल्ली के बाद वह ट्रेन पर नहीं रहेगा अतः वर्तमान में भी वह ट्रेन पर नहीं है। यदि आप टिकिट चैकर हों तो क्या आप उसके इस तर्क को स्वीकार कर लेंगे। स्पष्ट है कि न करेगें, तब आप क्या तर्क प्रस्तुत करेंगे। यही कि बनारस के पूर्व वह ट्रेन पर नहीं था और दिल्ली के बाद वह ट्रेन पर नहीं रहेगा इसी कारण वह बनारस से दिल्ली के बीच ट्रेन में है। बनारस से पूर्व और दिल्ली के बाद उसे ट्रेन में मानने का प्रश्न नहीं उठता। यदि बनारस से पहले ट्रेन में होता तो जहां से ट्रेन में होता वहां से चार्ज किया जाता। वह बनारस से दिल्ली के बीच ट्रेन में है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, नहीं तो वह बनारस से दिल्ली कैसे पहुंचता। अस्तु यह सिद्धात कि जो आदि में न हो और अन्त में न रहे वर्तमान में भी नहीं है असिद्ध हुआ, और यह सिद्ध हुआ कि जो वर्तमान में है उसका वर्तमान में होना मानना ही पड़ेगा श्री गौडपादाचार्य जी को संसार का वर्तमान में होना अस्वीकार नहीं है किन्तु भूतकाल में संसार (का अभाव था) नहीं था और भविष्य में संसार नहीं रहेगा (का अभाव होगा) इस कारण वर्तमान में भी वे इसका अभाव मानने का प्रस्ताव करते हैं किन्तु उन्होंने कोई ऐसा सिद्धान्त प्रस्थापित नहीं किया है जिससे जो भूतकाल में अस्तित्व में न हो तथा भविष्य में भी अस्तित्व में न रहे उसे वर्तमान में भी अस्तित्व में न माना जाय अर्थात् उसका अत्यन्ताभाव माना जावे। ध्यान रहे जिसका वर्तमान काल में भाव है उसका अत्यन्ताभाव कैसे हो सकता है। अत्यन्ताभाव तो उसका होता है जिसका तीनों कालों में अभाव हो। भाव और अभाव दो विपरीत स्थितिएं हैं। हम वर्तमान में किसी वस्तु के भाव को अभाव कैसे मान सकते हैं। दिन को रात कैसे माना जा सकता है केवल इस तर्क के आधार पर कि दिन होने

के पूर्व रात्रि थी अर्थात् दिन न था और दिन अस्त होने के बाद दिन न रहेगा। सूर्योदय के पूर्व आदि में दिन न था और सूर्यास्त के बाद दिन न रहेगा अतः वर्तमान में भी (सूर्य की विद्यमानता में) दिन नहीं है। यह युक्ति अदर्शन का परिणाम है। इससे दिन का अत्यन्ताभाव और रात का त्रिकाल भाव सिद्ध हुआ। अर्थात् दिन का मिथ्यत्व और रात का सत्य होना सिद्ध हुआ। अब क्योंकि रात्रि भी आदि अंत वाली है अतः उक्त तर्क को रात्रि पर आरोपित (प्रयुक्त) करने पर इसका विपरीत परिणाम सिद्ध होता है अर्थात् रात्रि का अत्यन्ताभाव और दिन का त्रिकाल सत्य होना सिद्ध होता है। अस्तु जिस युक्ति से परस्पर विपरीत परिणाम निकलते हैं वह दोषयुक्त है।

अध्याय के आरंभ में यह संकेत दिया गया था कि सत् असत् की निर्दोष धारणा के न होने से दोषयुक्त परिणाम प्राप्त होता है। वास्तव में जो विचारक केवल दो श्रेणी सत् और असत् मानकर चलते हैं वे गलत परिणाम पर पहुंचे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। केवल ये दो श्रेणी, सत् अर्थात् जिसकी तीनों कालों में सत्ता हो और असत् अर्थात् जिसकी तीनों कालों में सत्ता न हो, जगत में अनुभव में आने वाली सभी स्थितियों को समाहित करने में पर्याप्त नहीं हैं अतः यह आवश्यक है कि कुछ और श्रेणियों पर विचार किये जावे जिनमें व्यवहार में आने वाली सभी स्थितियों का समावेश हो सके।

प्रागभाव— जब वस्तु का अभाव भूतकाल में हो किन्तु वर्तमान काल में न हो अर्थात् जब वस्तु वर्तमान में तो सत्तात्मक है किन्तु वह भूतकाल में न थी तो इस प्रकार की स्थिति को प्रागभाव (प्राग् + अभाव) कहते हैं। उत्पत्तिवान् वस्तु का उत्पत्ति के पूर्व अभाव था किन्तु उत्पत्ति के बाद वह वस्तु सत्तावान् है एवं अनुभव का विषय है। घड़ा निर्माण के पूर्व नहीं था अतः घड़े का प्रागभाव है। अनाज उत्पत्ति के पूर्व नहीं था किन्तु उत्पत्ति के बाद सत्तात्मक है अतः अनाज का प्रागभाव है। इसी प्रकार जगत उत्पत्ति के पूर्व नहीं था किन्तु उत्पत्ति के बाद सत्तावान् है। उत्पत्ति के पूर्व जगत का अभाव था, उत्पत्ति के बाद जगत का अभाव नहीं है वरन् भाव है अतः जगत का प्रागभाव है। उपरोक्त किसी भी उदाहरण में वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं है। वस्तु काल के किसी एक विभाग में सत्तावान् है तीनों कालों में उसका अभाव नहीं है अतः ये असत् की श्रेणी में नहीं आते।

प्रध्वंसाभाव— किसी सत्तावान् वस्तु का नष्ट हो जाने के बाद जो अभाव होता है उसे प्रध्वंसाभाव (प्रध्वंस + अभाव) कहते हैं। वस्तु थी अवश्य किन्तु अब नष्ट हो जाने के उपरान्त सत्ता में नहीं है। घट था किन्तु नष्ट हो जाने के बाद अब नहीं है

अत: घट का प्रध्वंसाभाव है। वस्त्र था किन्तु नष्ट हो जाने के बाद उसका प्रध्वंसाभाव होता है। इन उदाहरणों में नष्ट होने के पूर्व वस्तु की सत्ता है अत: यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तु की सत्ता किसी काल में नहीं थी। एतदर्थ वस्तु का अत्यन्ताभाव नहीं है।

उत्पत्तिविनाश धर्म वाली वस्तु का अभाव उत्पत्ति के पूर्व होता है तथा विनाश के बाद भी होता है किन्तु वस्तु उत्पत्ति के बाद और विनाश के पूर्व के काल में सत्तावान् होती है। ऐसी स्थिति को प्रागभाव–प्रध्वंसाभाव की सम्मिलित संज्ञा से समझाया जाता है। जगत उत्पत्ति के पूर्व न था और विनाश के बाद न रहेगा। अत: जगत का प्रागभाव-प्रध्वसाभाव तो है किन्तु अत्यन्ताभाव नहीं है। अस्तु जगत असत् नहीं है, जगत का अभाव तीनों कालों में नहीं है। जगत वर्तमान से सत्तात्मक है। जब तक कि जगत का वर्तमान में भी अभाव सिद्ध न किया जाय तब तक जगत को असत् नहीं कह सकते।

प्रश्न— श्रीमद गौड़पादाचार्य जी ने वर्तमान में भी जगत का अभाव होने में हेतु दिया है यथा "वितथै: सदृशा:सन्तो ऽ वितथा इव लक्षिता:" अर्थात् जैसे मृगतृष्णा असत् होकर भी सत् दीख पड़ते है। वैसे ही ये सकल पदार्थ असत् के समान होकर भी सत् के समान दीख पड़ते है। इसके अनुसार जगत को मिथ्या ही मानना चाहिये
समीक्षा — इस दृष्टांत में तीन पृथक् २ द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसमें एक विषयी याने द्रष्टा मृग है जिसको अध्यास (भ्रम) होता है। दूसरी सत्ता रेत की है जिसमें अध्यास होता है और तीसरी सत्ता जल द्रव्य की है जिसका अध्यास होता है। जल को अध्यस्त (आरोपित) सत्ता कहते हैं जो वहां रेत में मौजूद नहीं है किन्तु जिसका अस्तित्व अन्यत्र है और जिसकी सत्ता होने का पूर्व ज्ञान एवं अनुभव द्रष्टा को है। यदि ऐसा न होता तो रेत में जल की कल्पना करने का प्रश्न ही नहीं उठता रेत में जल की सत्ता आरोपित करने का संदर्भ ही नहीं आता। अस्तु इस दृष्टांत की सार्थकता के लिये दो प्रथक् सत्ताओं का होना आवश्यक है एक अध्यस्त सत्ता जल और दूसरी सत्ता रेत जिसकी मौजूदगी भ्रम का कारण बनती है। दूसरा तथ्य यह है कि वह अध्यस्त (आरोपित) सत्ता जल और वह सत्ता रेत जिस पर आरोप किया जाता है, दोनों तदाकार होना चाहिये तब ही भ्रम का प्रश्न उठता है अन्यथा नहीं।

जगत को असिद्ध करने के प्रयोजन से अध्यास के जो दूसरे दृष्टान्त दिये जाते हैं उनमें भी यही बात पाई जाती है जैसे आंशिक प्रकाश (धुंधले) में रज्जु (रस्सी) में सर्प का भाव होना। इस दृष्टान्त में भी दो तदाकार सत्ताओं सर्प एवं रज्जु के

होने की पूर्व कल्पना द्रष्टा को है। सर्प की सत्ता रज्जु में नहीं है किन्तु अन्यत्र तो है तथा उसके होने का ज्ञान द्रष्टा को है नहीं तो भ्रम का प्रश्न नहीं उठता।

यदि कहो कि अध्यस्त सत्ता सर्प के पूर्वाभास की आवश्यकता नहीं है क्योंकि रज्जु में सर्प कल्पित है तो यह बताना पड़ेगा कि रज्जु में सर्प ही क्यों कल्पित है। जब कल्पित ही है तो रज्जु में हाथी, घोड़ा, ऊंट क्यों कल्पित नहीं हो सकते एक विशेष सत्ता ही क्यों कल्पित होती है सीप में चाँदी ही क्यों कल्पित होती है लोहा सोना, हीरा क्यों नहीं कल्पित हो सकते। अस्तु यह मानना ही पड़ेगा कि आरोपित सत्ता का पूर्वाभास अध्यास के दृष्टान्त के लिये एक अनिवार्य पूर्व शर्त (*precondition*) है अर्थात् दो तदाकार द्रव्यों की सत्ता स्वीकार कर लेने के उपरान्त हीं अध्यास का दृष्टान्त बनता है।

उक्त दृष्टान्तों को जगत पर प्रतिरोपित करने पर किसीं प्रकार के तुलनात्मक सुझाव (*parallel hypothesis*) भी नहीं बनते। यदि जगत आरोपित सत्ता है तो वह कौन सी तदाकार सत्ता है जिसमें जगत का अध्याय (भ्रम) होता है।

यदि द्रष्टा से पृथक् दो स्वतंत्र सत्ताओं का होना मान लिया जाय, जो कि इस द्रष्टान्त के तुलनात्मक सुझाव की पूर्ति हेतु अनिवार्य शर्त है तो जगत का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। जगत की सत्ता असिद्ध नहीं होती तथा यह प्रश्न बना रहता है कि वह कौन सी तदाकार स्वतंत्र सत्ता है जिसमें द्रष्टा (=ब्रह्म) को जगत का अध्यास (भ्रम) होता है। यदि वह सत्ता माया है तो ब्रह्म, माया तथा जगत इन तीनों पृथक् सत्ताओं का होना सिद्ध होता हैं तब यह तुलनात्मक सुझाव बनता है कि द्रष्टा ब्रह्म को मौजूद सत्ता माया में भ्रमवश जगत सत्ता का अध्यास हुआ। इसका तात्पर्य यह है जगत का अस्तित्व अन्यत्र है तथा इसके सत्तात्मक होने का पूर्व परिचय द्रष्टा ब्रह्म को है जिसको अज्ञान के कारण माया में जगत के होने का अध्यास हुआ है। इस प्रकार द्रष्टा से पृथक् दो सत्ताओं - माया एवं जगत का अस्तित्ववान् होना सिद्ध हुआ। अध्यास के दृष्टान्त से माया में जगत का अभाव असिद्ध होता है, किन्तु माया का माया में भाव तथा जगत में जगत का भाव असिद्ध नहीं होता, वरन् सिद्ध होता है।

रज्जु में रज्जु का भाव है, सर्प में सर्प का भाव है, रज्जु में सर्प का अभाव है यही उक्त दृष्टान्त से सिद्ध होता है। हाथी में हाथी का भाव है, घोड़े में हाथी का अभाव है अर्थात् किसी वस्तु में स्वयं का भाव शेष अन्यों का अभाव होता है। अस्तु जगत में जगत का भाव सिद्ध है माया में जगत का अभाव होगा ही जैसे हाथी में घोड़े का अभाव है।

अस्तु जगत का प्रागभाव- प्रध्वन्साभाव तो है किन्तु वर्तमान में जगत का अभाव नहीं है अर्थात् जगत का अत्यन्ताभाव सिद्ध नहीं है अतः जगत असत् नहीं है। जगत वर्तमान में सत्तात्मक है जगत का वर्तमान में अभाव सिद्ध करना असंभव है क्योंकि हम जिस जगत को असिद्ध करना चाहते हैं हमारे स्वयं के व्यक्तित्व का भान उस जगत के अस्तित्व से युक्त है जुड़ा हुआ है। हमारा वर्तमान व्यक्तित्व अमूर्त चेतना तथा देहादिक का संयुक्त रूप है। जगत संबन्धी हमारी समस्त धारणाएँ इन्द्रिय जन्य ज्ञाम पर आधारित हैं। देह तथा इन्द्रियें भी जगत का अंश हैं। जगत को स्वप्नवत् मान मेने पर इन्द्रिय तथा इन्द्रिय जन्य ज्ञान को भी स्वप्नवत् मानना ही पड़ेगा। यह ध्यान रखते हुए कि स्वप्न की बन्दूक से स्वप्न का शेर ही मारा जा सकता है जाग्रत का शेर नहीं मारा जा सकता, तब क्या हम स्वप्नवत् असत् जगत की मीमांसा से सत् ज्ञान पर, परम सत्य पर पहुंच सकते हैं। क्या हमारे द्वारा किसी भी अध्यास के दृष्टान्त का प्रयोग निर्दोष है क्या उस प्रयोग में यथार्थता है प्रामाणिकता है। असत् जगत में सभी इन्द्रिय जन्य ज्ञान असत् है उस ज्ञान पर आधारित सभी प्रतिज्ञाएँ (*statements*) भी असत् हैं। जगत मिथ्या है यह ज्ञान इन्द्रिय जन्य है परिणामस्वरूप यह प्रतिज्ञा कि जगत मिथ्या है असत् है मिथ्या है। इससे यह फलित हुआ कि जगत सत्य है।

सभी अध्यास के दृष्टान्त रज्जु में सर्प, सीप में चांदी, मृगतृष्णा में जल इन्द्रिय जन्य ज्ञान पर आधारित होने एव जगत का अंग होने से मिथ्या हैं। मिथ्या दृष्टान्त के आधार पर निकाला गया निष्कर्ष भी मिथ्या ही होगा। अतः जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने कंधे पर नहीं चढ़ सकता, मिथ्यत्व की पृष्ठभूमि पर सत्य को पाने की अभिलाषा भी मृगतृष्णा में जल पाने की वाञ्छा के समान है जिसमें जल नहीं है (जल = सत्) उसमें जल पाने की इच्छा, असत् (जिसमें सत् रूपी जल नहीं है) में सत् पाने के मनोरथ के समान है। यह अभीष्ट प्राप्तव्य नहीं है।

जगत की सत्ता नहीं है ऐसा कहने से पूर्व हम जगत की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं तब तो नकारने का प्रश्न उपस्थित होता है। जो सत्ता में नहीं है आकाश के फूल की तरह वह विवाद का मुद्दा कैसे बन सकता है ? जगत को स्वप्न-वत् कहना भी शब्द जाल है क्योंकि आप के मत में स्वप्न असत्ता है तथा जगत भी असत्ता है तो दो असत्ताओं में तुलना कैसे की जा सकेगी ? दो सत्ताओं में तुलना हो सकती है किन्तु दो असत्ताओं जैसे आकाश का फूल और वांझ का पुत्र में तुलना नहीं हो सकती। दूसरे स्वप्नकाल में किसी को यह ज्ञान नहीं होता कि स्वप्नावस्था है जाग्रत होने पर ही स्वप्न का यह भान होता है। यदि जगत स्वप्नावत् है तो इसकी जाग्रतावस्था क्या है ? यदि ज्ञानावस्था इसकी जाग्रतावस्था है तो ज्ञान प्राप्ति

के साथ जगत का उच्छेद (अभाव) हो जाना चाहिये । अनेक ब्रह्मज्ञानी हो चुके हैं किन्तु ऐसा आज तक नहीं हुआ कि ज्ञान प्राप्त होते ही जगत जादू की तरह गायब हो जावे, अन्तर्ध्यान हो जावे । अत: जगत को मायिक कहना उपयुक्त नहीं है अदर्शन है । जाग्रत व स्वप्न तदाकार होते हैं अर्थात् स्वप्न, जाग्रत की प्रतिच्छाया मात्र है यदि जगत स्वप्नावस्था है तो भी, इसकी जाग्रतावस्था भी तदाकार भौतिक ही होगी । जगत से इतर तदाकार जगत मानने से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती । जगत यदि प्रतिच्छाया है, प्रतिबिंब है तो जगत से पृथक् मूल स्रोत मानने से अच्छा यही है कि जगत को वर्तमान अनुभव सिद्ध सत्ता माना जावे ।

जगत को भ्रम या मिथ्या मानने की पृष्ठभूमि में जगत की परिवर्तनशीलता ही मुख्य कारण है । अस्तु जगत की परिवर्तनशीलता का कारण क्या है इस तथ्य की पूर्ण जांच आवश्यक है । उत्पत्ति, विनाश क्या हैं इनका क्या स्वरूप है, कारण कार्य व्यवस्था क्या है इसकी मीमांसा के अभाव में जगत के स्वरूप का निर्धारण दुरूह है ।

कारण—कार्य सिद्धान्त—वृक्ष से फल टूटकर पृथ्वी की ओर गिरा तो न्यूटन ने प्रश्न किया कि यह पृथ्वी की ओर क्यों गिरा । समुद्र में ज्वारभाटा आता है तो हम इसका कारण जानना चाहते हैं । भूकम्प होता है तो इसका कारण ज्ञात किया जाता है । यही नहीं जब साधारण सी घटना होती है जैसे गेंद का उछलना, तो हम पूछते है कि यह क्यों होता है । हम क्यों का प्रश्न करते क्यों हैं । हमारे इन प्रश्नों में यह सत्य अवलोकन निहित है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता । कोई भी कार्य जो होता है उसका कारण होना ही चाहिये । यह कारण क्या है ? किसी कार्य के होने के पूर्व एक अन्य कार्य या क्रिया होती है जिसके परिणाम स्वरूप वह आगामी कार्य होता है पूर्ववर्ती क्रिया को उस आगामी क्रिया का कारण कहते हैं फल के गिरने के पूर्व पृथ्वी का आकर्षण कार्य करता है । समुद्र में ज्वारभाटा आने के पूर्व चन्द्रमा का आकर्षण कार्यरत होता है । गेंद के उछाल लेने के पूर्व हुई बल्ले से चोट की क्रिया है अत: उछाल का कारण बल्ले से चोट की पूर्ववर्ती घटना है । इस प्रकार किसी कार्य (क्रिया) के होने में एक अन्य पूर्ववर्ती क्रिया ही उसका कारण है (*an action is preceded by another act which acts as a cause*) यह पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती (आगामी) दो क्रियाओं का परस्पर अटूट संबंध कारण-कार्य सिद्धान्त कहा जाता है । *The inseperable relationship between a succeeding event to a preceding event is called the law of cause and effect. This means that there is a chain of events, a sequence of inter-*

connected actions one following the other. Thus every action in the universe is in turn an effect of some act and a cause of another. इसका तात्पर्य यह है कि क्रियाओं का परस्पर सम्बद्ध एक अनवरत क्रम है जो एक के बाद एक घटित होता है अतः जगत में प्रत्येक क्रिया किसी अन्य क्रिया का परिणाम (*effect*) है तथा किसी अन्य क्रिया का कारण है यह जगत इस कारण कार्य व्यवस्था का तारतम्य मात्र है। (*The universe is an expression of a series of cause and effect that have occured in turn*) मानव निर्मित कार्य भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यरत हैं। घड़ा बनता है तो मिट्टी से ही बनता है वस्त्र बनता है तो कपास से ही बनता है पानी बनता है तो आक्सीजन हाईड्रोजन के संयोग से ही बनता है। ऐसा नहीं होता कि घड़ा कपास से बन जावे या वस्त्र मिट्टी से बन जावे। खेत में गेहूँ बोने पर हम गेहूँ के पौधे के प्रस्फुटित होने की ही आशा करते हैं नीबू का बीज बोकर हम सन्तरा या आम के वृक्ष के होने की उम्मीद नहीं करते। इस नियमितता को अपढ़ तथा बालक भी जानते हैं। इस नियमितता को कारण कार्य सिद्धान्त कहते हैं वैशेषिक दर्शन ने कहा है —

कारणभावात् कार्य भावः। ४। १। ३

कारण के होने पर ही कार्य सम्भव है। उपरोक्त उदाहरणों में मिट्टी, कपास आदि कारण हैं, घड़ा, वस्त्र कार्य हैं। बिना बीज बोये हम यह आशा नहीं कर सकते कि फसल होगी अतः शून्य से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। यही नहीं प्रत्येक कार्य का कारण निश्चित है यदि ऐसा न हो तो कोई विज्ञान नहीं बन सकती। यदि आक्सीजन हाइड्रोजन के संयोग से पानी न बने कुछ अन्य द्रव्य बन जाय तो अनिश्चितता का वातावरण निर्मित हो जावे। हम गेहूं से रोटी बनाते हैं वह रोटी न बनकर लकड़ी बन जाय लोहा बन जाय, ऐसा स्वप्न में तो हो सकता है पर जगत में नहीं हो सकता अर्थात् जगत में यथार्थवादिता है, कारण—कार्य व्यवस्था है। भौतिक द्रव्य प्रयोगशाला में परीक्षण हेतु उपयुक्त है तथा अनेक बार प्रयोग दुहराये जाने पर भी स्थिर परिणाम प्राप्तव्य है। आक्सीजन, हाइड्रोजन को उसी अनुपात में रसायन विधि से मिलाने पर सदा पानी का निर्माण ही होता है अतः यह विचार करना स्वाभाविक है कि प्रादुर्भूत होने के पूर्व पानी अपने अवयवों, घटकों के रूप में था। अतः कार्य की अभिव्यक्ति के पूर्व कार्य, कारण रूप में वर्तमान रहता है। दर्शन में इसे इस प्रकार कहा गया है- कारण भावाच्च, सांख्य। (*The effect resides in the cause*). घड़े की उत्पत्ति के पूर्व घड़े का रूप मिट्टी में ही छिपा रहता है घड़ा बनाने पर केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है। कुम्हार को पूरा विश्वास होता है कि अमुक विधि से मिट्टी का सांचा बनाने व पकाने से घड़ा ही बनेगा यदि उसे ऐसा विश्वास हो कि न जाने क्या बन जायेगा,

यदि ऐसी अनिश्चितता हो तो वह घड़ा बनाने में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। अनिश्चितता की बात तो दूर रही वरन् वह तो घड़े के स्वरूप की, उसके (*size, shape*) परिमाण व आकृति की पूर्व कल्पना उसके मन में रहती है तब तो वह विभिन्न (*size*) नाप के छोटे-बड़े घड़े योजनानुसार बनाता है। इसी प्रकार स्वर्ण-कार अलंकारों का निर्माण पूर्व कल्पित स्वरूप, (*design*) चित्र में बनी आकृति के अनुसार बनाता है। ऐसा नहीं होता कि बना हुआ अलंकार कुछ और ही बन जावे। अतः बनने वाले कार्य के स्वरूप की पूर्व कल्पना कर्त्ता के मन में होती है चाहे रचना आकृति सम्बन्धी हो अथवा प्रयोगशाला में रसायनिक द्रव्य के निर्माण सम्बन्धी हो। अतः यह देखा जाता है कि कार्य की उत्पत्ति का व्यवहार अथवा अव्यवहार अभिव्यक्ति निमित्तिक है अर्थात् अभिव्यक्ति को प्रकाश में लाने हेतु कार्य की उत्पत्ति होती है अभिव्यक्ति के अभाव में कार्य अप्रकट है अपने कारण में छिपा हुआ है जिसे कभी भी यथोचित विधि से प्रकट किया जा सकता है। अतः उत्पत्ति छिपे हुए रूप का प्राकट्य मात्र है। यह रूप किसी द्रव्य में छिपा रहता है द्रव्य के आश्रय के बिना छिपा हुआ रह नहीं सकता जैसे घड़ा मिट्टी में, आभूषण सोने में, वस्त्र कपास में, वृक्ष बीज में छिपा रहता है। जिस द्रव्य में कार्य छिपा रहता है उसे उस कार्य द्रव्य का कारण कहते हैं तदनुसार घड़े का कारण मिट्टी, आभूषण का सोना, वस्त्र का कपास तथा वृक्ष का बीज है। उत्पत्ति केवल अभिव्यक्ति, प्राकट्य की द्योतक है शून्य से उत्पत्ति का बोधक नहीं है इस सिद्धान्त को सांख्य दर्शन ने सूत्र (१।१२०) में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

अभिव्यक्ति निबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ।

कार्य गुप्त रूप से रहता है जब अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है तब उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है जैसे तिलों में तेल विद्यमान रहता है पेरने से प्रकट हो जाता है।

उत्पत्ति विनाश का स्वरूप — उपरोक्त मीमांसा के आधार पर हुए निश्चय को सूत्र रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

नावस्तुनो वस्तु सिद्धि। सांख्य १।७६

(न-अवस्तुनः) अवस्तु से, शून्य से किसी वस्तु की, किसी सत्ता की उत्पत्ति, प्राकट्य असम्भव है। उत्पत्ति विनाश निरपेक्ष (*absolute*) क्रियाएँ नहीं हैं ये सापेक्ष क्रियाएँ हैं। उत्पत्ति जब छिपे हुए रूप की अभिव्यक्ति मात्र है तो वह कारण द्रव्य या (उप+आदान) अपने निकट उस रूप को स्वीकार करने वाला, छिपा रखने वाला उपादान कारण मौजूद होना चाहिये।

घड़ा प्रकट होता है तो मिट्टी से, अंकुर प्रकट होता है बीज से। जगत में कुछ से कुछ बनते देखा गया है, इस नियम का अपवाद नहीं है। अभाव से (*absolute*

negation) कुछ बनते नहीं देखा गया। असत्, जो है नहीं, किसी वस्तु की उत्पत्ति का हेतु नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त को सांख्य दर्शन ने इस सूत्र में निहित किया है

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् । १ । ११४

(न-असत्-उत्पादः) असत् की उत्पत्ति नहीं होती जैसे मनुष्य के सींग नहीं होते

जिसकी उत्पत्ति अर्थात् प्राकट्य हो जावे, जिसका भाव हो जावे, जो अनुभव में आ जावे वह असत् न रहेगा वह सत्तात्मक हो जावेगा। अतः असत् सत्ता में नहीं आ सकता जो स्वयं सत्ता में न हो वह किसी अन्य सत्ता की अभिव्यक्ति का कारण भी नहीं हो सकता अतः कार्य सदैव अपने सत्स्वरूप (सत्तावान्) स्वकारण में अवस्थित रहता है उसी सत्कारण से वह कार्य द्रव्य प्रकट होता है।

इस सत्कार्यवादिता के सिद्धान्त को श्री शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है वेदान्त दर्शन (अ. २, पाद २) सूत्र २६ नासतो दृष्टत्वात् । के शांकर भाष्य में कहा गया है कि " अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं देखने में नहीं आती । जब अभाव का अस्तित्व ही नहीं तो वह किसी की उत्पत्ति का हेतु कैसे बन सकता है यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो तो सभी कार्य अभाव से हो जाने चाहिये" । आगे

उदासीनानामपि चैव सिद्धि

सूत्र के भाष्य में कहते हैं — "और इस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति हो जाती हो तो प्रयत्न न करने वालों को भी इच्छित पदार्थ की सिद्धि हो जानी चाहिये। सूत्रकार का तात्पर्य है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव हो तो प्रयत्न न करने वाले को भी इच्छित पदार्थ सुलभ हो जाने चाहिये। कोई कुम्हार बर्तन न बनावे तो भी बर्तन बन जाने चाहिये या किसान खेती किये बिना अन्न और जुलाहे के प्रयत्न बिना वस्त्र उत्पन्न हो जाने चाहिये वैसे ही मोक्ष के लिये प्रयत्न न करने पर भी मोक्ष हो जाना चाहिये । इससे किसी भी कर्म में प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिये भी अभाव से भाव उत्पन्न होने की युक्ति असंगत है"

यहां सूत्रकार एवं भाष्यकार शंकराचार्य जी दोनों ने ही बर्तन, अन्न, वस्त्र का उदाहरण देकर किसी वस्तु की उत्पत्ति में दो हेतुओं का होना प्रतिपादित किया है वह यह है कि वस्तु की उत्पत्ति निमित्त कारण रचयिता एवं उपादान कारण (उपरोक्त उदाहरण में मिट्टी, बीज एवं सूत) के अभाव में असंभव है।

इसी प्रकार विनाश के विषय में सांख्य दर्शन का यथार्थवादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण है 'नाशः कारण लयः' जब कोई वस्तु नष्ट होती प्रतीत होती है तो यह समझना चाहिये कि वह वस्तु जिन अवयवों के संयोग से बनी थी उनमें ही फिर से

विभक्त हो गयी । अतः मूल वस्तु की न तो उत्पत्ति होती है न विनाश होता है । दर्शन ने (अभावात् भाव सांख्य) अभाव, से भाव की उत्पत्ति को असंभव कहा है । गन्ना से रस, तथा रस से गुड़ की रचना के उदाहरण में सत्ता कभी गन्ना है तो कभी रस है तो कभी गुड़ है सत्ता नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, सत्ता का कभी अभाव नहीं है। गन्ना से जब रस बनता है तो गन्ना नाम के पूर्व रूप का लोप होता है तो आगामी रूप रस का प्राकट्य होता है। गन्ने के रूप के लय के साथ ही सत्ता रस के रूप में प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार जब रस का परिवर्तन गुड़ में होता है तो रस नाम के रूप के विलीन होते ही सत्ता गुड़ रूप में प्रकट हो जाती है। एक नाम रूप के लोप होते ही सत्ता नये नाम रूप का परिधान ओढ़कर प्रकट हो जाती है। एक हाथ पर विभव होता है तो दूसरे हाथ पर अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार सत्ता की निरन्तरता बनी रहती है अर्थात् भावात् भाव: - एक सत्तात्मक पदार्थ से ही दूसरे सत्तात्मक पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है जिसे उत्पत्ति कहते हैं पूर्व रूप का लय हुए बिना नये रूप की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति नहीं होती । पूर्व रूप के लय होने की क्रिया को साधारण भाषा में विनाश होना कहा गया है । इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश परस्पर संबंधित हैं । न तो शून्य से उत्पत्ति होती है न ही किसी सत्ता का लय शून्य में होता है। पूर्व रूप के लय के साथ उत्तर (आगामी) रूप की अभिव्यक्ति अवश्यमभावी है । प्रकृति का यह अटल नियम प्रत्यक्ष सिद्ध है। जब आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसेज के संयुक्त होने से पानी की रचना होती है तब पूर्व रूप आक्सीजन हाइड्रोजन के लय के साथ ही नये रूप पानी की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार उत्पत्ति-विनाश केवल नाम रूप का होता है इन परिवर्तनों के बीच मूल सत्ता, मूल तत्त्व अपरिवर्तित रहता है न तो उसकी उत्पत्ति होती है न ही उसका विनाश होता है उत्पत्ति–विनाश शब्दों का प्रयोग ही गलत (*misnomer*) है। मूल सत्ता का अत्यन्ताभाव (*absolute negation*) एवं शून्य से उत्पत्ति (*creation out of nothing*) दोनों असम्भव हैं । अस्तु उत्पत्ति, विनाश मूल-भूत सत्ता की अन्तर्व्यवस्था में केवल कुछ परिवर्तन मात्र है, केवल कुछ हेरफेर है ।

हिन्दू दार्शनिकों ने हजारों वर्षों पूर्व भौतिक पदार्थ के विषय में स्पष्ट मत व्यक्त किया था कि मूलभूत वस्तु की न ही उत्पत्ति सम्भव है न ही उसका विनाश। विज्ञान ने आज उसी मत को मात्रा सन्तुलन, ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया है । यह सिद्धान्त कहता है कि रसायनिक परिवर्तनों में पदार्थ की मूलभूत मात्रा अपरिवर्तित रहती है न तो मूलभूत पदार्थ की उत्पत्ति होती है न ही विनाश होता है । पदार्थ की आन्तरिक संरचना में परिवर्तन के कारण नये द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है। विद्वान् को यह समझने में तनिक भी कठिनाई न होगी कि हिन्दू दर्शन तथा विज्ञान के सिद्धान्त में एक ही मूलभूत सत्य का प्रतिपादन हुआ है।

यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि हिन्दू दर्शन का सिद्धान्त सत्ता मात्र पर लागू होता है जिसमें भौतिक तथा अभौतिक दोनों प्रकार की सत्ताएँ सम्मिलित हैं किन्तु विज्ञान के सिद्धान्त का दायरा भौतिक सत्ता तक सीमित है। अतः हिन्दू दर्शन का सिद्धान्त अधिक व्यापक है।

इस प्रकार विज्ञान द्वारा भौतिक पदार्थ की निरन्तरता प्रतिपादित की गयी है। आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद से पदार्थ की निरन्तरता के संबंध में विज्ञान ने अपने दृष्टिकोण को और भी परिमार्जित कर लिया है। अब उसने मात्रा संरक्षण, ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्तों को (*space time continuum*) दिक् काल संबंधी आयामों से जोड़ दिया है। काल चतुर्थ आयाम है काई भी वस्तु (*object*) काल की गति से अप्रभावित नहीं है किसी वस्तु का परिमाण क्या है आकृति कैसी है यह प्रश्न अधूरा है जब तक उसके साथ यह न जोड़ा जाय कि यह किस काल की घटना है। वस्तु की दशा काल पर निर्भर है। उदाहरण के लिये सन् १९२० में जन्मा हुआ व्यक्ति जन्म के दिन कैसा था, १९२१ में कैसा था, १९४० में कैसा था, १९६० में कैसा था इस पर विचार करने से विदित होगा कि जन्म के दिन ६-७ पौण्ड का शिशु, १९२१ में १ साल का बालक, १९४० में २० साल का युवा तथा १९६० में ४० साल का अधेड़ है। इसी प्रकार जगत की अन्य वस्तुएँ हैं जो कभी मिट्टी का टीला था वह २५ साल बाद महल के रूप में परिवर्तित हो गया पर १०० साल बाद खण्डहर हो गया २०० साल बाद फिर टीले में परिवर्तित हो गया। अतः द्रव्य काल की गति से प्रभावित है। आज जो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी दिखाई दे रहे हैं १० अरब वर्ष पूर्व ये केवल कास्मिक मेटर के एक बादल थे नेबुला के रूप में थे उसके कुछ करोड़ वर्ष पूर्व एक आग का पिण्ड था। समस्त द्रव्य प्राथमिक (*fundamental*) अवस्था में इलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, न्यूट्रान, म्यूओन, एन्टीम्यूओन आदि के रूप में था। उसके पूर्व क्या था कोई नहीं जानता। द्रव्य (मेटर) अपना (*phase*) पहलू, दशा निरन्तर बदल रहा है यही इसका निष्कर्ष है। इसी तारतम्य में नये-नये रूप बनते रहते व बिगड़ते रहते हैं उत्पत्ति, विनाश दोनों सापेक्ष (*relative*) हैं निरपेक्ष (*absolute*) नहीं हैं परिवर्तन का यह चक्र अनादि अनन्त है इस अनादि अनन्त काल चक्र को परिभाषित करने की दृष्टि से अथर्ववेद के ऋषि ने कहा—

भूतं ह भव्ये आहितं

भूत वैसा ही हुआ होगा जैसा भविष्य होगा। किन्तु भविष्य तो अभी हुआ ही नहीं है उसके स्वरूप की कल्पना कैसे की जा सकती है तो कहते हैं—

भव्यं भूते प्रतिष्ठितं

भविष्य वैसा ही होगा जैसा भूत हो चुका है अर्थात् भूत, वर्तमान, भविष्य

अविच्छिन्न रूप से परस्पर संयुक्त हैं सृष्टि की कोई घटना आकस्मिक (*chance*) नहीं है। ऋषि ने कहा—

असति सत् प्रतिष्ठितं। अव्यक्त में व्यक्त स्थित है।

सति भूतं प्रतिष्ठितं। व्यक्त में सूक्ष्म स्थूल (*states of matter*) भूत अर्थात् जगत स्थित है। अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त यही शाश्वत् नियम है। सृष्टि एक नियमित योजनाबद्ध विकास है सृजन के चरम बिन्दु (*finality of cosmic evolution*) पर पहुंचकर परावर्तन (*dissolution*) आरम्भ हो जाता है जो द्रव्य को मूल अवस्था (*primordial state*) तक ले जाता है इस शून्य विन्दु या दूसरी चरम अवस्था के प्राप्त होते ही फिर से सृजन रूप आवर्तन आरम्भ हो जाता है द्रव्य कहीं रूकता नहीं उसकी यात्रा अनन्त है उसी यात्रा में सृष्टि बनकर तैयार हो जाती तथा कालान्तर में मूल रूप में लय हो जाती है सत्ता की निरन्तरता सदैव बनी रहती है यह सत्य द्रव्य सत्ता की त्रिकाल निरन्तरता का (*Trikala continuum*) द्योतक है, जिसका प्रतिपादन ऋषि ने ऋचा में किया है।

हिन्दू शास्त्रकारों ने इस सृजनात्मक शक्ति का नाम ही महामाया दुर्गा रखा है जो निर्माण करती है अनन्तर यही शक्ति महाकाली के रूप में सबको विनष्ट करती है। सृष्टि उत्पत्ति-लय के अनादि अनन्त चक्र में समस्त काल व्याख्यात् हुआ है। विज्ञान की स्पेश-टाईम की परिकल्पना (*concept*) द्रव्य की त्रिकाल सत्ता का परिचायक नहीं है उसमें द्रव्य की त्रिकाल सत्ता के दर्शन नहीं हैं। विज्ञान के अनुसार वर्तमान सृष्टि महाविस्फोट (*big bang*) के अनन्तर आरम्भ हुई। महा-विस्फोट के पूर्व द्रव्य की सत्ता का स्वरूप क्या था इसकी परिकल्पना विज्ञान में नहीं है। वर्तमान सृष्टि शनैः शनैः ऊर्जा मृत्यु की ओर जा रही है उस ऊर्जा मृत्यु के अनन्तर द्रव्य सत्ता का क्या स्वरूप होगा इसकी कल्पना भी विज्ञान में नहीं है अतः विज्ञान की स्पेश-टाईम परिकल्पना वर्तमान जगत की उत्पत्ति विनाश के काल की सीमा में बद्ध है किन्तु वैदिक ऋषि का दर्शन काल की सीमा का अतिक्रमण करता है दिक् काल (*space time*) का वह दर्शन सर्वकालिक है जिसमें भूत, भविष्य अपनी समग्र सत्ता में समाहित हुए हैं, समा गये हैं।

इस अध्याय में निम्नलिखित तथ्य निश्चित हुए—

१- असत् वह है जिसका अभाव तीनों कालों में हो।
२- स्वप्न का भाव स्वप्नावस्था में है, इस कारण स्वप्न असत् नहीं है।
३- सत् वह है जिसका भाव तीनों कालों में हो।
४- जिसका अस्तित्व भूतकाल में न हो तथा भविष्य में न रहे उसका प्रागभाव प्रध्वन्साभाव तो है किन्तु वर्तमान में भाव को अभाव मानने में न तो कोई

युक्ति है न ही ऐसा कोई सिद्धान्त प्रस्थापित हुआ है ।

५- जगत की सत्ता वर्तमान काल में है जिसे नकारा नहीं जा सकता ।

६- रेत में जल का अध्यास, रज्जु में सर्प का अध्यास, ये उदाहरण जगत सत्ता को असिद्ध नहीं करते । रज्जु में रज्जु है सर्प में सर्प है रज्जु में सर्प नहीं है अतः जगत में जगत है माया में माया है माया में जगत नहीं है । अध्यास के उदाहरण की पूर्ति के लिये द्रष्टा के अतिरिक्त दो अन्य तदाकार सत्ताओं का होना आवश्यक है ताकि एक में दूसरे का भ्रम हो सके । इस प्रकार द्रष्टा तथा दो अन्य सत्ताएँ सिद्ध होती हैं जिनमें जगत भी एक है जिसका अध्यास (भ्रम) माया पर होता है ।

७- उत्पत्ति-विनाश केवल नाम रूप का होता है द्रव्य का नहीं होता यह सांख्य-वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान के ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त में निहित है ।

८- उत्पत्ति विनाश द्रव्य की अन्तर्व्यवस्था में परिवर्तन मात्र से हैं इस परिवर्तन से एक हाथ में एक नाम-रूप का लोप होता है तो दूसरे हाथ में दूसरा नाम-रूप प्रकट होता है । उत्पत्ति अभिव्यक्ति निमित्तिक है नाश नाम-रूप का छिपना मात्र है। अभिव्यक्ति का (*suppression*) तिरोभूत होना नाश है ।

९- पदार्थ की निरन्तरता के सिद्धान्त को विज्ञान ने स्पेश-टाईम की निरन्तरता के रूप में प्रतिपादित किया है किन्तु उसकी परिकल्पना वर्तमान सृष्टि उत्पत्ति-लय की अवधि तक सीमित है । पदार्थ की त्रिकाल निरन्तरता वेद के सृष्टि उत्पत्ति-लय के अनादि-अनन्त चक्र की सत्ता के सिद्धान्त में व्याख्यात हुई है ।



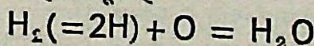
अध्याय ४

अनादि-अनन्त व्याख्या, कारण-कार्य वर्गीकरण

पूर्व अध्याय की मीमांसा से यह निश्चित हुआ कि जिस प्रकार शून्य से उत्पत्ति असंभव है उसी प्रकार किसी सत्तावान् वस्तु का शून्य में विलीन होना भी असम्भव है। इस अनुभव का द्रव्य जगत में कोई अपवाद नहीं है। जगत में जो परिवर्तनशीलता दिखाई देती है उसकी पृष्ठभूमि में मूलभूत पदार्थ ज्यों का त्यों अपरिवर्तित रहता है उत्पत्ति एवं विनाश केवल नाम एवं रूप का होता है। जब कोई वस्तु (नया रूप) बनती है तो वह विद्यमान (मौजूद) पदार्थ से ही बनती है शून्य या अत्यन्ताभाव से (*absolute negation*) नहीं बनती। इसी प्रकार जब कोई वस्तु (रूप) नष्ट होती है तो वह शून्य में विलीन नहीं होती वरन् अन्य अवयवों में विभक्त हो जाती है। जगत की परिवर्तनशीलता की पृष्ठभूमि में क्या रहस्य है यह ज्ञात करना आवश्यक है।

संसार में हमें दो प्रकार के पदार्थ दिखाई देते हैं एक तो वे जो मानव निर्मित हैं जिन्हें कृत्रिम कहते हैं दूसरे वे जो मानव निर्मित नहीं हैं इन्हें हम स्वभाविक कहते हैं। स्वभाविक कहने से हमारा क्या तात्पर्य है यह हम स्वयं नहीं जानते। क्या ये स्वभाविक कही जाने वाली वस्तुएँ बनी हुई नहीं हैं? बने हुए अर्थात् उत्पत्तिवान द्रव्य (*substance*) के लक्षण क्या हैं तथा कभी न बने हुए अर्थात् अनादि, स्वयंभू (*self existing*) तत्व के लक्षण क्या है इन तथ्यों की जांच इस अध्याय में की गयी है।

उत्पत्तिवान्-विनाशशील वस्तु के लक्षण— इस तथ्य की जांच हेतु एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। यह साधारण ज्ञान है कि आक्सीजन व हाइड्रोजन गैसेस मिलकर पानी की उत्पत्ति करती हैं। इस उत्पत्ति में कौन सी प्रक्रिया निहित है इसका अध्ययन करना चाहिये। सूत्र है



$$H_2(=2H) + O = H_2O$$

दो परमाणु हाईड्रोजन + एक परमाणु आक्सीजन = एक अणु पानी। पानी की उत्पत्ति में हाईड्रोजन-आक्सीजन कारण (हेतु) हैं आक्सीजन हाईड्रोजन के परमाणुओं के मेल से पानी उद्भूत होता है यहां पानी के दो अवयव हैं हाईड्रोजन एवं आक्सीजन। अस्तु अवयवों के संयोग से नये पदार्थ की उत्पत्ति होती है। अतः

किसी वस्तु की उत्पत्ति उसके अवयवों (*constituents*) का मात्र संयोग (*union*) हैं। संयुक्त पदार्थ पानी में संयोग के पूर्व के दोनों पदार्थ आक्सीजन हाईड्रोजन के क्रमशः एक व दो परमाणु मौजूद हैं अर्थात् आक्सीजन हाईड्रोजन के पूर्व विद्यमान अंशों में किसी प्रकार की क्षति हुए बिना ही नवीन द्रव्य की उत्पत्ति हुई है। इसका तात्पर्य यह है कि आक्सीजन हाईड्रोजन में जो मौलिक कण (परमाणु) थे वे ज्यों के त्यों पानी की बनावट में विद्यमान हैं उनमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। केवल पूर्व रूप आक्सीजन हाईड्रोजन विलीन होकर नवीन रूप की अभिव्यक्ति हो गयी है। अस्तु किसी वस्तु की उत्पत्ति उसके अवयवों का संयोग मात्र है। इसके विपरीत जब किसी भौतिक पदार्थ के अवयव (*constituents*) पृथक् होते है तो वस्तु का रूप विलीन हो जाता है तथा वह अपने अवयवों(जिनमें विभक्त होती है) के रूप में विद्यमान रहती है। उपरोक्त उदाहरण में पानी का नाश होना क्या है? पानी का उसके अवयवों आक्सीजन हाईड्रोजन में विभक्त हो जाना। अवयवों का मेल, संयुक्त होना जिस प्रकार वस्तु की उत्पत्ति का पर्याय है वस्तु का विनाश उसके अवयवों में होना है। अवयवों के संयोग से नये नाम रूप वाले द्रव्य की उत्पत्ति (*comming into being*) एवं वियोग (विभाजन *seperation, disintegration*) से विनाश, विलीन होना देखा गया है। उत्पत्ति विनाश सापेक्ष क्रियाएं हैं जिनमें पूर्व रूप का लय एवं उत्तर रूप (आगामी) की अभिव्यक्ति होना देखा जाता है। पूर्वोक्त उदाहरण में पूर्व पक्ष में आक्सीजन, हाईड्रोजन का लय होता है तो उत्तर पक्ष में पानी की उत्पत्ति होती है। ध्यान रहे दोनों पक्षों के मध्य बराबरी का चिन्ह (*sign of equality*)है जो यह दर्शाता है कि परिवर्तन की इस प्रक्रिया में मूलभूत तत्त्व दोनों पक्षों में समान है, वही है यद्यपि दोनों पक्ष रूप में भिन्न हैं। दोनों पक्षों का परस्पर विनिमय हो सकता है।

अस्तु यह निष्कर्ष निकलता है कि उत्पत्ति-विनाश धर्म वाले सभी नाम-रूप-धारी पदार्थ सावयव (सा-अवयव) अर्थात् अवयवी या घटक सहित (अवयव वाले =*with constituents*) होते हैं अवयवी होना उनका प्रमुख लक्षण (*characteristic*) हैं। अवयवों का संयोग एवं उत्पत्ति समानार्थी हैं तथा विनाश अवयवों में विभक्त होने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

• संसार की सभी वस्तुएं चाहे वे मानव निर्मित हों अथवा न हों बनी हुई अवश्य है अर्थात् संयुक्त हैं, यौगिक हैं निरवयवी निर-अवयवी = *without constituents*)नहीं हैं। वास्तव में विज्ञान आज तक मूल तत्व (निर-अवयवी), चरम भौतिक सत्ता की खोज में सफल नहीं हुआ है। अस्तु जिन पदार्थ को हम स्वाभाविक कहते हैं वे स्वाभाविक नहीं हैं अर्थात् असंयुक्त, न बने हुए (*unitary*) नहीं

हैं। जो संयुक्त हैं उनकी उत्पत्ति सुदूर भूतकाल में अवश्य हुई होगी क्योंकि संयुक्त (*united, associated*) द्रव्य अवयवों के संयोग, मिलाप के बिना नहीं बन सकता अतः यह संयोग या मिलाप (अनादि नहीं है) कभी न कभी अवश्य हुआ होगा। वही उस द्रव्य का उत्पत्तिकाल है। अस्तु जगत में सभीं द्रव्य उत्पत्ति धर्म वाले हैं चाहे वे मानव निर्मित हों अथवा सृष्टि उत्पत्ति क्रम में अवयवों के संयोग से बनी हों।

पूर्व अध्याय में कारण-कार्य सिद्धान्त पर चर्चा हुई है। वहां कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति असम्भव बताई गयी है तथा विनाश का तात्पर्य कार्य द्रव्य का कारण में लीन होना कहा गया है। इस अध्याय में यह निश्चय हुआ कि उत्पत्ति-वान् पदार्थ अवयवी होता है। इन्हीं अवयवों के संघात (समुच्चय) को कारण द्रव्य कहते हैं। इस अध्याय के उदाहरण में आक्सीजन, हाईड्रोजन कारण द्रव्य हैं पानी कार्य है। विनाश की प्रक्रिया में कार्य द्रव्य (यहां पानी) पुनः अपने कारण द्रव्यों में विभक्त होकर उन्हीं कारण द्रव्यों (यहां आक्सीजन, हाईड्रोजन) के रूप में वर्तमान रहता है। इस प्रकार कारण-कार्य व्यवस्था अवयव,अवयवी व्यवस्था से व्याख्यात हुई।

अनादि एवं स्वयंभू तत्व के लक्षण— पूर्व (*section*) परिच्छेद की व्याख्या में हम यह देख आये हैं कि जगत के सभी पदार्थ संयुक्त, सावयव अथवा यौगिक हैं यद्यपि यह ज्ञात नहीं है कि इनका संयोग कब हुआ, कैसे हुआ। साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ छोटे-छोटे कणों (जर्रों) से मिलकर बना है चाहे यह पदार्थ ठोस हो द्रव हो या गैसीय हो। यदि छोटे से छोटे कण को विभक्त किया जाय तो अत्यन्त सूक्ष्म कण प्राप्त होंगे। इनका व्यवहारिक (*practical*) विभाजन संभव न भी हो तो भी मानसिक रूप से विभाजन किया जा सकता है। पुनः छोटे से छोटे भाग के और भाग करते जावें तथा विभाजन की इस प्रक्रिया को तब तक जारी रखें जब तक खंड करने की क्रिया की सीमा न आ जावे। अब विभाजन की क्रिया से प्राप्त परम खण्ड आगे अविभाज्य है जिसका कारण यह है कि अब जो खण्ड प्राप्त हुआ है वह यौगिक नहीं है वह निर-अवयव (*without constituents*) है स्वयं में पूर्ण है अर्थात् अपने स्व-अस्तित्व से सत्तावान्, वह स्वयं इकाई है वह अंशों के संयोग का परिणाम (*effect*) नहीं है वरन् यह अन्तिम अवयव है पदार्थ का वह परमभाग है चरम सत्ता (*ultimate constituent of matter*) है जो निर-अवयवी होने से अविभाज्य है। हम विभाजन की चरम सीमा पर पहुंच गये हैं वेदों में इस अखंड को अदिति संज्ञा से विभूषित किया गया है। यही तत्त्व जगत का आद्य भौतिक उपादान कारण (*initial*

cause) है मूल तत्त्व (*fundamental particle*) है। इन्हीं मूल चरम तत्त्वों के परस्पर संयोग से प्रथम यौगिकों की उत्पत्ति होती है अनन्तर यौगिकों से अन्य यौगिक बनते हैं। जिस प्रकार द्रव्य का निरन्तर विभाजन करते रहने से मूल तत्त्व प्राप्त होता है उसी प्रकार मूल आद्य तत्त्वों के निरन्तर मेल की पुनरावृत्ति होते रहने पर अनन्तोगत्वा जगत के द्रव्य बन जाते हैं।

विज्ञान के अनुसार भी संसार के अकार्बन यौगिक, लगभग ११५ अकार्बन तत्त्वों (एलीमेन्टस) से बने हैं इसी प्रकार कार्बन से बने यौगिक हैं। पुनः ये एलीमेन्ट अणुओं के योग से बने हैं अणु परमाणुओं के संयोग से बने हैं। परमाणु भी इकाई नहीं हैं ये इलेक्ट्रान, प्रोटान न्यूट्रान से बने है। इस प्रकार विज्ञान का मत कारण-कार्य व्यवस्था का अनुमोदन करता है अवयवों के मेल से संरचना एवं अवयवों के पृथक् होने से लय होना विज्ञान सम्मत है। अवयवों के मेल से द्रव्य की अभिव्यक्ति होती है तथा इसकी विपरीत क्रिया अर्थात् अवयवों के पृथक् हो जाने से अवयव छिप जाते हैं। इस प्रकार उत्पत्ति, विनाश निरपेक्ष (*absolute*) क्रियाएं नहीं हैं।

मूल तत्त्व अखंड अर्थात् अवयवरहित, घटक रहित होता है वह स्वयं अन्तिम अवयव है अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि उसकी उत्पत्ति कब हुई अतः इसे अनादि, आरंभरहित कहते हैं। हम यह देख चुके हैं कि उत्पत्ति अवयवों के संयुक्तीकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो तत्त्व इकाई है उसमें अवयवों के मेल का प्रश्न नहीं उठता अर्थात् उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता। उनमें अवयवों का मेल नहीं है न यह प्रश्न हो सकता कि वह कब बना। अतः इसे अनादि=आदि रहित एवं स्वयंभू, अपने आप अस्तित्व वाला कहते हैं। यौगिकों का अस्तित्व अपने आप नहीं है वह अवयवों के मेल के कारण है। अनादि तत्त्व का प्रमुख लक्षण यही है कि वह अवयवरहित, घटक रहित, खंडरहित होता है वह अवयवों के संयोग का परिणाम नहीं है वरन् मौलिक, निर-अवयव एवं इकाई है।

अनादि तत्त्व अनन्त भी होता है — किसी यौगिक (*compound*) वस्तु के घटकों, खण्डों के विघटन को वस्तु के नाश होने की संज्ञा दी जाती है। अनादि तत्त्व में अवयवों का अभाव होता है यह तत्त्व मूल इकाई रूप होता है। ज्ञातव्य है कि खंड उसी के हो सकते हैं जो अवयवों वाला हो, घटकों वाला हो। अस्तु निर-अवयव तत्त्व के खंड होने की एवं विघटन होने की परिस्थिति नहीं हो सकती। इकाई रूप अखंड के खंड नहीं हो सकते। इस कारण विघटन भी नहीं हो सकता। विघटन के अभाव में अन्त होने का कोई साधन, कोई तरीका नहीं है। इस कारण अनादि तत्त्व अनन्त (=अन्तरहित) होता हैं। इस तथ्य को गीता ने अपने श्लोक में

अभिव्यक्त किया है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ,
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ।

जिससे यह संपूर्ण (जगत) विस्तृत है उसे निश्चय ही अविनाशी जान (क्योंकि) इसके (अव्ययस्य = व्ययरहित) अपरिवर्तनशील, अखंडित मूल प्रकृति का कोई भी नाश करने को समर्थ नहीं है ।

जगत के मूल में अखंड अवयव निहित है । यह परम भाग अन्तिम अवयव है मूल इकाई है । अखंड केवल मूल अवयव, परम भाग ही हो सकता है अस्तु यहां यह विचार निहित है कि अखंड चरम भाग विनाश के परे है । अखंड का खंड नहीं हो सकता । यदि कहो कि हो सकता है तो वह अखंड नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार अनादि तत्व काल की सापेक्षता से अन्तरहित भी होता है अर्थात् काल के प्रमाण मे आदि अन्त रहित होता है । अनादि तत्व अनन्त भी होता है इस विषय में एक दूसरी युक्ति विचारणीय है ।

मान लो कोई सत्ता (जैसे आत्मा) काल मे अनादि है हम वर्तमान को अपनी यात्रा का आरंभ बिन्दु मानकर भूतकाल की ओर प्रयाण करें इस उद्देश्य से कि हमें अनादि सत्ता के स्रोत की दिशा में चलना है । भूतकाल की ओर प्रयाण करने पर सर्वप्रथम हमें वर्तमान सृष्टि का आरम्भ काल मिलेगा । भारतीय दर्शन के अनुसार प्रत्येक सृष्टिकाल के अनन्तर प्रलयकाल आता है । सृष्टिकाल और प्रलयकाल की अवधि बराबर होती है इन्हें क्रमशः ब्रह्म दिन तथा ब्रह्म रात्रि कहते हैं प्रत्येक की अवधि १०० चतुर्युगी के बराबर होती है एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार मानव वर्ष के बराबर होती है । यदि इस वर्तमान सृष्टि के आरम्भकाल के भी पूर्ववर्ती काल में जावें तो हमें भूतकाल की प्रथम ब्रह्म रात्रि मिलेगी उसे पार करके भूत में जावें तो ब्रह्म दिन मिलेगा । उसके पीछे ब्रह्म रात्रि । यह क्रम जारी रहेगा इसका अन्त पाना असम्भव है । अन्ततः यह कहना पड़ेगा कि अनादि सत्ता के स्रोत की ओर अनन्तकाल तक भी प्रयाण करने पर हम अनादि के स्रोत को, आदि बिन्दु को नहीं पा सकते । यदि पा जावें तो कहना पड़ेगा कि जिसे अनादि कहा गया है वह अनादि नहीं है ।

अतः अनादि के स्रोत की ओर की यात्रा अन्त रहित अर्थात् अनन्त होती है वास्तव में अनादि का स्रोत, उद्गम बिन्दु (*starting point*) होता ही नहीं । उसका होना अनादि की कल्पना का विरोधाभास है । अतः जो भूतकाल में अन्त-रहित है वह भविष्य में भी अन्त रहित होगा क्योंकि जो आज भविष्य है वही कल

भूत हो जाता है अतः काल से अनादि, काल से अनन्त भी होता है।

गणित शास्त्र के अनुसार एक दिशागत (*one sided infinity*) असीम या अनन्त की कल्पना तीन आयाम वाली ज्यामिति (*three dimensional geometry*) में आता है जब कोई रेखा किसी वक्र को असीम पर (*when a line is an asymptote to a curve*) स्पर्श करती है। यह विचार इस प्रकार है कि यदि हमारी कल्पना रेखा के मार्ग पर चले तो वह अनन्त पर उस वक्र से मिलेगी। पर अनन्त की ओर काल्पनिक यात्रा का अन्त नहीं होता क्योंकि अनन्त का अन्त पा लेने पर वह अनन्त नहीं रह जाता।

सांख्य का कारण-कार्य वर्गीकरण — हम अभी तक यह देख चुके हैं कि सत्तावान् द्रव्य या तो उत्पत्तिवान् है या अनादि-अनन्त है। कारण, कार्य की परिभाषा एवं इनका परस्पर क्या संबंध है इस पर पूर्व अध्याय में विचार हो चुका है। ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्य (कारिका) भाष्य में द्रव्य के जितने प्रकार के वर्गीकरण कार्य कारण व्यवस्था के अन्तर्गत हो सकते हैं उनका विवेचन किया है। यह वर्गीकरण अत्यन्त सुन्दर एवं युक्तियुक्त है। इसके अनुसार सत्तावान् द्रव्य चार श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं ये श्रेणियां इस प्रकार हैं —

प्रथम– वे तत्त्व जो किसी का कार्य (*effect*) नहीं हैं किन्तु जो स्वयं किसी का कारण (*cause*) हैं। जो उत्पत्तिधर्मा नहीं हैं जो किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुए अर्थात् जो स्वयं तो अनादि हैं उत्पत्तिवान् नहीं हैं किन्तु जो अन्य की उत्पत्ति में हेतु हैं इस तत्त्व से सृष्टि आरम्भ होती है।

सांख्य कारिका ने इस श्रेणी के उदाहरण में प्रकृति को रखा है। प्रकृति अनादि है स्वयंभू है प्रकृति की उत्पत्ति में कोई अन्य तत्त्व कारण नहीं है। प्रकृति अवयवों से रहित है अखंड है भौतिक जगत का अन्ततम अव्यय (*ultimate particle*) है किन्तु प्रकृति अन्य तत्त्व की उत्पत्ति में हेतुभूत है उपादान कारण (*material cause*) है प्रकृति से उत्पन्न प्रथम परिणाम का नाम सांख्य में महत् तत्त्व कहा गया है।

द्वितीय श्रेणी– द्वितीय श्रेणी में वे द्रव्य आते हैं जो किसी का कार्य हैं तथा किसी का कारण भी हैं। ये द्रव्य स्वयं किसी उपादान कारण से उत्पन्न हैं अतः उत्पत्तिवान् हैं अनादि नहीं हैं वरन् आदि सहित हैं किन्तु इनसे अन्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति में हेतु हैं कारण कार्य व्यवस्था में ये द्रव्य मध्यवर्ती हैं किसी के कार्य हैं किसी के कारण हैं।

इस श्रेणी के उदाहरण में सांख्य परम्परा में महत्तत्त्व पंचतन्मात्रा कही जाती हैं। महत्तत्त्व प्रकृति से उत्पन्न होता है प्रकृति का कार्य है।

महत्तत्त्व से पंचतन्मात्रा उत्पन्न होती हैं पंचतन्मात्रा से पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य है तथा पंचतन्मात्रा का कारण है। इसी प्रकार पंचतन्मात्रा महत्तत्त्व का कार्य है किन्तु पंच महाभूत का कारण है।

विज्ञान से भी इस तथ्य की सत्यता को जांचा जा सकता है उदाहरण के लिए परमाणु, अणु इस वर्ग में आते हैं। इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान से परमाणु बनता है परमाणु से अणु बनता है अणु से एलीमेन्ट बनता है। अतः परमाणु, इलेक्ट्रान प्रोटान न्यूट्रान का कार्य है तथा अणु का कारण है। इसी प्रकार अणु, परमाणु का कार्य है किन्तु एलीमेन्ट का कारण है। इस प्रकार परमाणु एवं अणु कार्य भी हैं कारण भी हैं। ये द्वितीय श्रेणी वाले हैं, मध्यवर्ती सत्ताएँ हैं।

तृतीय श्रेणी– वे द्रव्य जो किसी का कार्य तो हैं किन्तु किसी का कारण नहीं हैं अर्थात् जो किसी उपादान कारण से अस्तित्व में आये हैं किन्तु इनसे आगे किसी अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती।

सृष्टि उत्पत्ति रचना क्रम में ये अन्तिम बने हुए द्रव्य हैं विज्ञान के अनुसार इस वर्ग में यौगिक (*compounds*) आते हैं ये यौगिक एलीमेन्टस् से बनते हैं किन्तु यौगिकों को हम रचना का अन्त कह सकते हैं। इस प्रकार ये एलीमेन्टस् के कार्य हैं किन्तु आगे के क्रम में ये किसी अन्य द्रव्य के कारण नहीं हैं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते।

सांख्य दर्शन के अनुसार पांच महाभूत पृथ्वी (ठोस), जल (द्रव), वायु (गैसीय अवस्था), तेज (विकिरण = ताप, विद्युत, प्रकाश) तथा आकाश (सूक्ष्म व्यापक विकिरण) चरम विकसित द्रव्य कहे गये हैं अर्थात् दृश्य जगत को पांच तत्वों में वर्गीकृत कर परिभाषित कर दिया गया है। ये पांच महाभूत स्वयं तो पांच तन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं किन्तु आगामी चरण में इनसे कोई नया द्रव्य उद्भूत नहीं होता क्योंकि ये स्वयं रचना की अन्तिम सीमा हैं पराकाष्टा हैं। इस प्रकार ये पांच महाभूत पंच तन्मात्रा के कार्य हैं किन्तु किसी आगामी द्रव्य की उत्पत्ति में हेतुभूत न होने से किसी के कारण नहीं हैं। ये केवल कार्य हैं कारण नहीं हैं।

चतुर्थ श्रेणी– इस श्रेणी में वे द्रव्य आते हैं जो न तो किसी के कार्य हैं न ही किसी के कारण हैं। अर्थात् न ही ये किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं न ही कोई अन्य पदार्थ इनसे उत्पन्न होता है। ये सर्वकालिक अपरिवर्तनशील नित्य हैं। ये

काल से अनादि हैं उत्पत्तिधर्मा न होने से, तथा काल से अनन्त हैं अन्तरहित होने से। ये किसी द्रव्य की उत्पत्ति में उपादान कारण नहीं हैं। ये तत्त्व क्रिया की दृष्टि से उदासीन, सदैव एक से रहने वाले, नित्य कहे जाते हैं। इस वर्ग में चेतन तत्त्व (चित् तत्त्व) आता है चाहे जीवात्मा हो या परमात्मा।

प्रश्न— प्रकृति अनादि है प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है प्रकृति से जब महत्तत्त्व बनता है तो प्रकृति के मूल स्वरूप का लोप हो जाता है अर्थात् प्रकृति का अन्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति अनन्त न रही, अन्तवान् सिद्ध हुई अतः यह सिद्ध हुआ कि अनादि तत्त्व अन्त वाला हो सकता है। प्रकृति अनादि सान्त (स–अन्त=अन्त सहित) है। इस प्रकार प्रकृति जो सबका कारण है वह भी अनित्य सिद्ध हुआ जैसा कि गौड़पादाचार्य जी ने प्रश्न किया है —

जायमानाद्धि वै कार्यात् कारणं ते कथं ध्रुवं।

उत्पत्तिमत् कार्य से भिन्न होने पर कारण की ध्रुवता (=नित्यता) किस प्रकार सिद्ध होगी।

जब कार्य की उत्पत्ति हुई तो कारण तत्त्व का अन्त हो गया। यदि कारण तत्त्व (मूल तत्त्व) का अन्त हो गया तो वह मूल तत्त्व पुनः कैसे प्राप्त होगा जब तक कि वह उत्पत्ति धर्म वाला न हो, तो फिर उसे मूल तत्त्व (आदि कारण) कैसे कहेंगे।

जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते।
अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै॥

यदि जात् (उत्पत्तिवान्) वस्तु से कार्योत्पत्ति (सृष्टि उत्पत्ति) स्वीकार की जाय तो कोई व्यवस्था ही नहीं बनती, अनवस्था दोष आता है और जिसके सिद्धांत में अनादि से ही कार्य उत्पन्न होता है तो निश्चय है कि इसका दृष्टान्त उनके पास नहीं है।

समीक्षा— यह स्थिर सिद्धांत है कि कारण तत्त्व का अस्तित्व कार्य तत्त्व में रहता है अतः कार्य तत्त्व की उत्पत्ति पर कारण तत्त्व का लोप नहीं होता जैसा कि आपने मान लिया है। पूर्ववर्ती कारण तत्व उत्तरवर्ती (आगामी) कार्य तत्व में ज्यों का त्यों वर्तमान रहता है अतः कारण तत्व का अन्त नहीं होता किन्तु कार्य में कारण विद्यमान रहता है (*The cause resides in the effect*).

इस तथ्य को समझने के लिये उत्पत्ति विनाश के संबंध में अध्याय में जो विचार हो चुका है उसका पुनरावलोकन आवश्यक है। किसी वस्तु की उत्पत्ति

उसके अवयवों का मात्र संयोग है। इस नवीन बनी हुई वस्तु में पूर्ववर्ती अवयवों की, जिनके संयोग से वह नवीन वस्तु (रूप) बनती है, सत्ता नष्ट नहीं होती वरन् ज्यों की त्यों बनी रहती है।

प्रकृति तीन प्रकार के तत्त्वों का संघात है। इन तीन प्रकार के तत्त्वों के परस्पर कई प्रकार के संयोग से जो नये यौगिक बनते हैं उनका संयुक्त नाम महत्-तत्त्व है। मान लो प्रकृति के तीन तत्वों का प्रतिनिधित्व अक्षर अ, ब, स करते हैं यह भी मान लो कि यौगिक दो-दो के मेल से बनते हैं, तब निम्न प्रकार से यौगिक बनेंगे—

पूर्व रूप		उत्तर रूप	
अ+ब	=	अ⇄ब	१
अ+स	=	अ⇄स	२
ब+स	=	ब⇄स	३

समानता सूत्र के वाम पक्ष में तत्व अपने पृथक्-पृथक् मूल स्वरूप में हैं। दाहिने पक्ष में जो नवीन यौगिक की उत्पत्ति हुई है उसमें वे दोनों वाम पक्ष वाले तत्व मूल स्वरूप में वर्तमान हैं। दाहिने पक्ष में बांये पक्ष से केवल यह भेद है कि दाहिने पक्ष में दो तत्व आकर्षण के कारण जुड़ गये हैं, मात्र संयुक्त हो गये हैं। उत्पत्ति के पहले पूर्व रूप तथा उत्पत्ति के अनन्तर उत्तर (आगामी) रूप में तत्वों में किसी प्रकार का परिवर्तन, क्षति नहीं हुई है। अतः प्रकृति के तत्वों से जब महत्-तत्व की उत्पत्ति होती है तो महत्तत्व की बनावट में प्रकृति के कुल तत्व ज्यों के त्यों अपने मूल स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। अतएव महत्तत्व की उत्पत्ति में प्रकृति का लोप नहीं होता। प्रकृति के स्वरूप का अन्त नहीं होता।

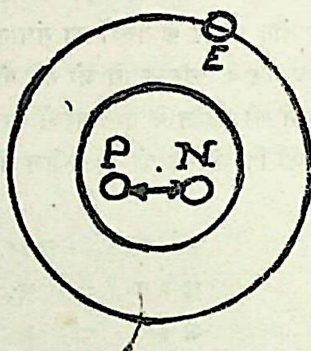
यही नियम आगामी रचनाओं में कार्यान्वित होता हैं। किसी भी नवीन रचना (उत्पत्ति) में जो नवीन द्रव्य उत्पन्न होता है उसकी अन्तर्व्यवस्था में वे घटक (*consituents*) जिनके संयोग के परिणामस्वरूप वह नई रचना (उत्पत्ति) होती है अपने मूल पूर्व रूप में वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार पूर्व अवयवों, घटकों के विनाश से नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती वरन् उन अवयवों, घटकों के संयोग मात्र से ही नवीन उत्पत्ति होती है। यह सिद्धांत काल्पनिक नहीं है वरन् विज्ञान का प्रयोगसिद्ध मान्य सिद्धांत है।

उदाहरण के लिये इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान से परमाणु रचना का विवरण दिया जाता है—

E=इलेक्ट्रान, P=प्रोटान, N=न्यूट्रान

हाइड्रोजन परमाणु की रचना में एक इलेक्ट्रान, एक प्रोटान एवं एक न्यूट्रान भाग लेते हैं हाईड्रोजन की बनावट में ये तीनों कण ज्यों के त्यों मौजूद रहते हैं जैसा नीचे चित्र में दर्शाया गया है—

हाईड्रोजन परमाणु
=N+P+E=



न्यूट्रान कण व प्रोटान कण केन्द्र (नाभि) में मौजूद है तथा इलेक्ट्रान कण उस केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगाता है। इस प्रकार परमाणु रचना की पूर्ववर्ती स्थिति में परमाणु रचना हो जाने पर कोई मौलिक भेद नहीं होता। जो तीन कण हाईड्रोजन रचना के पहले थे वे ही अब एक परस्पर संयोग (*bond*) में स्थित हैं। यही नियम अन्य परमाणुओं की रचना में प्रयुक्त होता है केवल भाग लेने वाले कणों की संख्या बढ़ती जाती है। उदाहरण के लिये हीलियम की बनावट में पूर्वोक्त तीनों कणों के दो-दो कण भाग लेते हैं उस रचना में केन्द्र में दो कण न्यूट्रान के व दो कण प्रोटान के रहते हैं तथा वृत्त पर दो इलेक्ट्रान कण भ्रमण करते हैं।

इस प्रकार जैसा कि बताया जा चुका है किसी भी नवीन रचना में भाग लेने वाले संघटक नवीन रचे हुए द्रव्य की (बनावट में) अन्तर्व्यवस्था में वर्तमान रहते हैं। अनन्तोगत्वा जगत के द्रव्यों में प्रकृति के मूल कण ज्यों के त्यों मौजूद हैं अतः अनादि, अखंड मूल तत्व से उत्पत्ति आरम्भ होने में किसी प्रकार भी अनवस्था दोष नहीं आता।

अध्याय में प्रस्थापित तथ्य—

१. उत्पत्ति विनाशशील द्रव्य अवयवी एवं खंडनीय होता है अर्थात् अवयवों, घटकों का संगठन होना अनिवार्य है।

२. अनादि या स्वयंभू तत्व घटकों, अवयवों से रहित अखंड होता है।

३. अनादि तत्व अनन्त भी होता है।

४. कारण कार्य व्यवस्था मे द्रव्य का वर्गीकरण चार प्रकार का है।

आत्मा न किसी का कार्य है न कारण है।

प्रकृति किसी का कार्य नहीं है किन्तु जगत का आदि कारण है। अन्य द्रव्य कार्य भी हैं कारण भी हैं।

स्थूल भूत अन्तिम कार्य हैं।

५. प्रकृति नित्य है जगत के सभी द्रव्यों में प्रकृति के मूल कण मूल अवस्था में केवल संयुक्त हुए वर्तमान हैं।



अध्याय ५

जगत के स्वरूप का विवेचन

गत अध्याय में हम उत्पत्ति विनाशशील द्रव्य वा अनादि अनन्त द्रव्य के लक्षणों का विवेचन कर चुके हैं। वहां कारण-कार्य व्यवस्था पर भी विचार हो चुका है अब इस अध्याय में जगत के स्वरूप की मीमांसा की जावेगी।

रचना के छै कारण — हम जगत में मानव निर्मित वस्तुओं का निर्माण होते देखते हैं इन निर्माणों में ५ कारण दिखाई देते हैं यथा प्रथम कर्त्ता जो निर्माण करता है इसे दर्शन की भाषा में निमित्त कारण कहते हैं। द्वितीय अधिष्ठान अर्थात् वह पदार्थ जिससे वस्तु का निर्माण किया गया है इसे दर्शन की भाषा में उपादान कारण या प्रधान कारण या अधिष्ठान भी कहते हैं। तृतीय कारण वे साधन और विधियां हैं जिनसे निर्माण किया जाता है। चतुर्थ कारण कर्त्ता में निर्माण करने की योग्यता, कला का ज्ञान होना है और पांचवां कारण कर्ता द्वारा कर्म में प्रवृत्त होना तथा उस कर्म में प्रवृत्त होने में हेतु अर्थात् प्रेरणा का होना है। इन पांच कारणों में से यदि एक भी विद्यमान न हो तो वस्तु का निर्माण नहीं हो सकता।

उदाहरण के लिये कुम्हार द्वारा घड़े के निर्माण पर विचार कीजिये। यहां प्रथम कारण कर्ता है कुम्हार। द्वितीय कारण अधिष्ठान है मिट्टी। तृतीय कारण है साधन चक्र आग आदि कुम्हार के औजार व पकाने आदि की विधि। चौथा कारण है कुम्हार में घड़ा बनाने की कला का ज्ञान होना और पांचवां कारण है घड़ा बनाने में प्रेरणा का होना व तदनुसार कर्म में प्रवृत्ति।

इनमें से यदि एक भी कारण मौजूद न हो तो निर्माण नहीं हो सकता। यदि कर्ता न हो तो निर्माण असंभव है यदि कर्ता हो किन्तु उपादान कारण मिट्टी न हो तो भी निर्माण नहीं हो सकता। यदि दोनों विद्यमान हों किन्तु कुम्हार के साधन आदि न हों तो भी निर्माण नहीं होगा। पूर्वोक्त तीनों कारण मौजूद हों किन्तु कर्ता को घड़ा निर्माण कला का ज्ञान न हो तो भी निर्माण नहीं हो सकता। पूर्वोक्त चारों कारण मौजूद हों किन्तु कुम्हार को घड़ा बनाने में प्रेरणा न हो तथा वह तदनुसार कर्म न करे तो भी घड़े का निर्माण न होगा।

उपरोक्त पांच कारणों के अतिरिक्त एक छठवां कारण भी होता है जो यद्यपि प्रकट रूप से नहीं कहा जाता किन्तु अज्ञात रूप से इस कारण का होना

अनिवार्य है। यह है काल (*time*) और दिक् (*space*)। स्पष्ट है कि कुम्हार किसी समय पर और किसी स्थान पर घड़े का निर्माण करेगा इसमें दो मत नहीं हो सकते अतः काल और दिक् अज्ञात रूप से हर घटना से संयुक्त हैं।

उपरोक्त ६ कारण किसी भी वस्तु के निर्माण के लिये सर्वमान्य हैं। चाहे वह छोटी से छोटी वस्तु हो या बड़ी से बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धि हो। उदाहरण के लिये राकेट के निर्माण को लीजिये। इस निर्माण में प्रथम कारण कर्ता - वैज्ञानिकों व तकनीकी विशारदों का होना आवश्यक है। द्वितीय कारण राकेट के निर्माण के लिये विभिन्न पदार्थों का होना। राकेट निर्माण, तकनीक का ज्ञान, विविध साधन, कारखाना, मशीन आदि। राकेट निर्माण का उद्देश्य एवं तदनुसार कार्य प्रणाली का निर्धारण व कार्य में प्रवृत्ति। एतदर्थ यह निश्चय हुआ कि उपरोक्त कारणों में से एक कारण के भी न होने पर राकेट का निर्माण नहीं हो सकता।

हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रत्येक निर्मित वस्तु को देखकर यह कहा जा सकता है कि इसके निर्माण में पूर्वोक्त ६ कारण अवश्य सन्निहित हैं। इस नियम का कोई अपवाद जगत में उपलब्ध नहीं है। अब इसे सृष्टि पर लागू करने पर यह निश्चय होता है कि सृष्टि निर्माण में भी इन ६ कारणों का होना अनिवार्य है। सृष्टि निर्माण में किस आधार पर उपरोक्त ६ कारणों की आवश्यकता का न होना माना जायेगा। सृष्टि निर्माण उपरोक्त नियम का अपवाद है यह सिद्ध करना कठिन है क्योंकि इसका कोई दृष्टांत उपलब्ध नहीं है।

२. वस्तुओं के दो प्रकार— इस संबंध में यह कहा जाता है कि दो प्रकार की वस्तुएँ हैं एक मानव निर्मित जिन्हें कृत्रिम कहते हैं और दूसरी स्वाभाविक जिनका निर्माण मनुष्य ने नहीं किया। नक्षत्र, पृथ्वी, सूर्य, नदी, पहाड़ आदि स्वाभाविक वस्तुएँ हैं। उपरोक्त वर्णित ६ कारण कृत्रिम वस्तुओं के लिये लागू होते हैं ये स्वाभाविक वस्तुओं के लिये लागू नहीं होते।

समीक्षा— यदि हम वर्तमान में निर्मित शब्द को छोड़ दें तो उचित होगा क्योंकि निर्मित शब्द से मानव द्वारा निर्मित भाव का भान होता है। जिस प्रकार भवन, राकेट आदि बने हुए हैं उसी प्रकार सूर्य, पृथ्वी आदि भी बने हुए हैं। सूर्य पृथ्वी आदि स्वाभाविक नहीं हैं केवल अन्तर यह है कि इनकी आयु करोड़ों वर्षों में है। वास्तव में विज्ञान ने इनकी आयु का निर्धारण भी कर लिया है। रेडियो धर्मित्ता के आधार पर परमाणु की आयु भी निर्धारित की जा चुकी है अतः जब परमाणु (*Atom*) स्वयं स्वाभाविक नहीं है अर्थात् बना हुआ है चाहे उसकी उत्पत्ति कितने भी

सुदूर भूतकाल में क्यों न हुई हो तो फिर सूर्य, पृथ्वी, नक्षत्र आदि के स्वाभाविक होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्वाभाविक उसे कहते हैं जो स्वनिर्मित हो अर्थात् जिसकी उत्पत्ति कभी न हुई हो। इस वर्ग में केवल प्रकृति आती है अन्य कोई भी भौतिक पदार्थ स्वाभाविक या स्वयंभू नहीं है। जिस वस्तु का विघटन हो सकता है तथा जो अवयवों के संयोग से बनी है वह संयोग के पूर्व नहीं थी अत: उसकी उत्पत्ति का काल वह है जब अवयवों के योग से वह बनी चाहे वह काल कितने भी सुदूर भूतकाल में क्यों न हो। अत: जगत की वस्तुएँ स्वाभाविक नहीं हैं बनी हुई हैं चाहे वे अपने आप बिना कर्ता के बनी हों किन्तु उन्हें न बना हुआ, स्वाभाविक नहीं कह सकते।

यह गलत धारणा कर ली गयी है कि सूर्य, पृथ्वी आदि स्वाभाविक वस्तुएँ हैं। स्वाभाविक वस्तु वह है जो कभी न बनी हो अर्थात् जो स्वयंभू (*self existent*) हो।

हम देख चुके हैं कि ऐसी स्वाभाविक वस्तु वही हो सकती है जो घटकों से रहित हो, जो अखंड हो, जो यौगिक न हो, जो उपभागों से बना हुआ न हो, जो अवयवरहित स्वयं में पूर्ण एवं मूल हो। पृथ्वी सूर्यादि इस श्रेणी में नहीं आते, ये बने हुए हैं, कृत्रिम हैं चाहे ये मानव की कृति न हों किसी अन्य चैतन्य शक्ति की कृति हों। कृत्रिम ये इसलिये हैं क्योंकि ये अवयवों के मेल से बनी हैं, ये यौगिक हैं। हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है यह सिद्ध करने के लिये कि इनको किसी ने नहीं बनाया तथा ये अपने आप बन गयीं। कोई वस्तु अपने आप बन जाती है इसका संसार में कोई उदाहरण नहीं है तो सृष्टि को इस नियम का अपवाद कैसे कह सकते हैं।

३. अजातवाद का मत— इन सब बातों का हल अजातवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने से हो जाता है। अजातवाद के अनुसार जगत को रचा हुआ मानना ही भूल है, सृजन की कल्पना करना ही गलत है। यदि हम जगत को सदैव से ऐसा ही मान लें तो जगत की उत्पत्ति के कारण खोजने की आवश्यकता न रहेगी। आधुनिक विज्ञान के यथास्थितिवाद मत (*steady state theory*) के अनुसार कुछ लोक बनने की प्रक्रिया में होते हैं और कुछ नष्ट होने की प्रक्रिया में होते हैं इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह से बनती बिगड़ती हुई ऐसी ही रहती है।

समीक्षा— सृष्टि सृजन की कल्पना नहीं की गई है वरन् सृजन एक सत्य है। अपने आप बनने बिगड़ने वाले विश्व में सुव्यवस्था नहीं हो सकती। आखिरकार

निर्जीव जड़ पदार्थ अपने आप व्यवस्थित (*orderly universe*) विश्व क्यों तथा कैसे उत्पन्न कर सकता है। जगत में भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त जीवित प्राणी भी हैं जिनके शरीरों की संरचना बड़ी ही विचित्र है जिसमें असीम बुद्धि का चातुर्य दृष्टिगोचर होता है।

हजारों बुद्धिवादी विश्व रचना संबंधी नियमों के अध्ययन में रत हैं जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान के आज हजारों विभाग हो गये हैं। इन विभागों का पूर्ण परिचय देना भी एक विद्वान् के लिये सम्भव नहीं है-भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, प्राणी शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान आदि विषयों में अनेकों शाखा, उपशाखा स्थापित हो गयी हैं। इस सतत अध्ययन से जिसमें हजारों विद्वानों का योगदान सम्मिलित है जो ज्ञान अर्जित हुआ है वह पूर्ण ज्ञान का अंश-मात्र भी नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना मानव के लिये सम्भव भी प्रतीत नहीं होता। फिर भी यदि कोई बुद्धिवादी इस विश्व को अव्यवस्था से उत्पन्न माने तो उसकी समझ ही चिन्ता का विषय है। जिस विश्व के नियमों को अध्ययन करना हजारों बुद्धिवादियों के लिये भी सम्भव नहीं है उस विश्व की रचना में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं है यह कैसे सम्भव हो सकता है।

यथास्थितिवाद एक विकल्पमात्र है वास्तव में अधिकांश वैज्ञानिक अब आदिकाल में एक बड़े विस्फोट से (*theory of bigbang*) जगत की उत्पत्ति मानते हैं। विश्व अनन्त नियमों में बंधा हुआ निरन्तर गतिशील है, इन नियमों को अंशरूप में आधुनिक विज्ञान दर्शा रही है। अतः सृष्टि रचना बुद्धिपूर्वक अनेकानेक नियमों में आबद्ध दिखाई देती है इसे किसी भी प्रकार परमाणुओं के आकस्मिक संयोग का परिणाम नहीं कह सकते।

४. यंत्रवाद का मत— विश्व की रचना भौतिक पदार्थ (परमाणुओं) से इतर किसी चैतन्य शक्ति से मानना कारण-कार्य सिद्धांत के विपरीत है। इस विषय में आधुनिक यंत्रवाद का दृष्टिकोण ही समीचीन प्रतीत होता है। यंत्रवाद का कहना है कि जिस प्रकार घड़ी के कांटों की स्थिति के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है उसी प्रकार भौतिक कारण के फलस्वरूप किसी कार्य की प्राप्ति कब होगी यह भी कहा जा सकता है।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जगत एक बड़ा यंत्र है। कारण-कार्य रूपी अविच्छिन्न संबंध ही इसकी प्रेरक शक्ति है। प्रकृति में कोई प्रयोजन या हेतु दृष्टि-गोचर नहीं होता। कारण-कार्य संबंध गणित के नियमों के अनुसार कार्य करते हैं इसमें निमित्त कारण रूप (*efficient cause or creator*) बाह्य आध्यात्मिक

(चेतन) शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान काल की भौतिक घटनाएँ भूतकाल का परिणाम मात्र है इनमें भविष्य के लिये कोई योजना निहित नहीं है। कालान्तर में क्रिया प्रतिक्रिया के द्वारा बनते बिगड़ते हुए पदार्थ स्वयं व्यवस्थित हो जाते हैं।

समीक्षा— सर्वप्रथम विश्व को यंत्र की संज्ञा देना विश्व कर्त्ता की सत्ता को स्वीकार करना है। यंत्र मानव द्वारा बुद्धिपूर्वक निर्मित है अपने आप स्वनिर्मित अथवा स्वविकसित नहीं है। यंत्र में जो कार्य क्षमता या गति होती है वह कर्त्ता द्वारा निर्धारित होती है। जैसे बहु-चरण वाले (*multi stage*) राकेट यद्यपि बाद में अपने आप चलते हैं किन्तु पूर्व में ही वैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित योजना पर ही ये कार्य करते हैं। इसी प्रकार घड़ी का निर्माण भी प्राकृतिक नियमों के (भौतिक पदार्थ के गुणों के) आधार पर कर्त्ता द्वारा किया जाता है। यह उदाहरण स्वचालित, अपने आप निर्मित वस्तु का नहीं है।

यंत्र का उदाहरण स्वयं आपके सिद्धांत का विरोधी है (*self contradictory*)। यंत्र के निर्माण के लिये यंत्रकर्ता की आवश्यकता है। अतः विश्व को यंत्रवत् कहना विश्वकर्ता निमित्तकारण चेतन के अस्तित्व को स्वीकार करना है। निर्मित वस्तु का उदाहरण देकर विश्व को अनिर्मित कहना अदर्शन है, अयुक्तिपूर्ण है।

दूसरी बात यह है कि सजीव मानसिक क्रिया वाले प्राणी यंत्रवत् कार्य नहीं करते। ऐसे प्राणियों के जीवन को समझाने में यंत्रवाद सफल नहीं हो सकता। प्राणी मात्र कार्य-कारण व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यरत नहीं है वरन्. प्राणी जीवन स्वेच्छाचारिता, जीवन धारण, भोग सुख प्राप्ति आदि मानसिक क्रियाओं पर आधारित है। यंत्रवाद के आधार पर जीव स्वातंत्र्य को नहीं समझाया जा सकता, विशेषकर मानव की संकल्प विकल्पादि मानसिक स्वतंत्र शक्ति भविष्य में किसी कार्य के संबध में क्या दिशा निर्धारण करेगी इसके विषय में यंत्रवाद कोई भविष्यवाणी (*prediction*) नहीं कर सकता। अस्तु सिद्ध है कि प्राणी यंत्रवत् कार्य नहीं करता न वह एक यंत्र है। इस प्रकार यंत्रवाद यद्यपि यंत्रकर्ता की अनिवार्यता का प्रतिपादन करता है फिर भी जीव स्वातंत्र्य को नहीं समझा पाता।

५. विकासवाद का मत — लामार्क, डारविन, हरबर्ट स्पेन्सर आदि ने जो विकासवाद (*theory of evolution*) के द्वारा पदार्थ जगत एवं प्राणी जगत की उत्पत्ति के संबंध में जो तथ्य प्रस्तुत किये हैं उनमें प्राणी जीवन किस प्रकार जड़ प्रकृति से विकसित हुआ यह समझाया जा सकता है। विकास का अर्थ है क्रमशः आगे को ओर बढ़ना और ऊँचे स्तर को प्राप्त करने के लिये संघर्ष करना।

डार्विन के अनुसार पहले अपने आप आकस्मिक भेद (*spontaneous, accidental or fortuitous variations*) होते हैं, फिर उन प्राणियों की क्रियाओं में भेद होने लगते हैं। जो परिवर्तित अंग वातावरण के अनुकूल होते हैं वे उपयोग के द्वारा दृढ़ होते हैं और जो अंग उपयोग में नहीं आते वे क्रमशः शिथिल होकर लुप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार प्राकृतिक चुनाव (*law of natural selection*) द्वारा एक साधारण जीव कोष (*simple living cell*) से (*complex living cell*) जटिल जीवन कोष उत्पन्न होते हैं। जीवधारी के अंगों में जो परिवर्तन होते हैं वे अगली पीढ़ी को वंशानुक्रमण के नियम के द्वारा (*by law of heredity*) सहज ही प्राप्त हो जाते हैं इन परिवर्तनों का पीढ़ी दर पीढ़ी संचय होता है। इस प्रकार अनेकानेक जीवधारी (*variety of species*) उत्पन्न होते हैं। जीवन संग्राम (*struggle for existence*) में योग्यतम बच जाते हैं (*survival of the fittest*) शेष नष्ट हो जाते हैं।

समीक्षा— सर्वप्रथम यह समझना कठिन है कि एकाएक (*spontaneous*) और और आकस्मिक परिवर्तन (*accidental variations*) क्या हैं। जिस स्थल को समझाया न जा सके उसे आकस्मिक कहना और उसे विकास की प्रक्रिया कहना स्थिति को टालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आकस्मिक और विकास परस्पर विरोधी हैं।

प्रकृति में कोई कार्य आकस्मिक नहीं हो सकता। आकस्मिक कार्य केवल चेतन द्वारा इच्छा शक्ति से होता है। उदाहरण के लिये दो वाहनों का टकरा जाना एक आकस्मिक घटना (*accident*) है किन्तु यहां दोनों वाहन चालक वाहन चलाने में स्वतंत्र इच्छा शक्ति वाले हैं।

समुद्र में ज्वारभाटा का आना, वर्षा होना, भूकम्प होना, ज्वालामुखी का फटना, सौर्यमण्डल के पास से किसी पुच्छल तारा (*comet*) का निकलना, नदी का अपना प्रवाह का मार्ग बदलना आदि कोई भी आकस्मिक घटना नहीं हैं। इनके होने का ज्ञान मानव को न हो यह दूसरी बात है किन्तु प्रकृति में ये परिवर्तन धीरे-धीरे होते रहते हैं किसी नियम के अनुसार होते हैं एकाएक (*abrupt or spontaneous*) नहीं होते, इनके पीछे कारण-कार्य सिद्धांत (*law of cause & effect*) निहित है। प्रकृति में कोई भी परिवर्तन आकस्मिक नहीं होता। प्रकृति में विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। आकस्मिकता और विकास परस्पर विरोधी हैं। विकास में नियमितता (*systematisation*) होना सन्निहित है अतः आकस्मिक परिवर्तन विकास का अंग नहीं हो सकता।

प्रकृति में नियमित रूप से परिवर्तन हो रहा है हम इस परिवर्तन से अनभिज्ञ हों यह दूसरी बात है। पुच्छल तारे के आने की भविष्यवाणी उसके नियमित रूप से पेरावोलिक मार्ग (*parabolic path*) पर चलने के कारण ही संभव है। समुद्र में तूफान का आना, भूकंप का होना, ज्वालामुखी का फूटना, वाढ़ का आना, आदि सभी घटनाओं की भविष्यवाणी (*forecast*) होने लगी है जो केवल इस कारण संभव हो सकी है कि प्रकृति की घटनाएँ क्रमबद्ध हैं निश्चित हैं। जो निश्चित है जिसे टाला नहीं जा सकता उसे आकस्मिक की संज्ञा देना अदर्शन है।

६. **आकस्मिक घटना का विवेचन** — आकस्मिकता के (*concept*) विचार का उदय कैसे हुआ इस पर विचार करने से विदित होगा कि प्रकृति में आकस्मिकता नाम की वस्तु नहीं है। आकस्मिक घटना का संबंध (चेतन) जीवित सत्ता से है जिसमें इच्छा शक्ति निहित है। सिक्के का उछाला जाना, बन्दूक के निशाने को किसी बिन्दु पर लक्ष्य किया जाना, सूजे से सतरंजी बोर्ड के किसी खाने का बींधा जाना आदि खेलों में जिन्हें जुआ कहा जाता है आकस्मिक परिणाम दृष्टिगोचर होता है वहीं से इस विचार का उदय हुआ है। ये सभी कार्य इच्छाधारी मानव द्वारा किये जाते हैं। क्योंकि मानव यन्त्रवत् किसी क्रिया को दुहरा नहीं सकता इस कारण परिणाम क्या होगा इसे कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार आकस्मिकता के विचार का उदय होता है।

मान लीजिये एक सिक्के को उछाले जाने पर परिणाम चित (*head*) आया। कल्पना कीजिये कि जैसा पहले उछाला गया था बिलकुल वैसा ही (*exactly the same*) फिर उछाला जावे तो परिणाम क्या होगा। स्पष्ट है कि परिणाम वहीं होगा जो पूर्व हुआ था अर्थात् फिर सिक्का चित गिरेगा। इस प्रकार यदि अनेक बार दुहराया जावे तो परिणाम चित ही होगा। प्रकृति यन्त्रवत् कार्य करती है अतः प्रकृति में आकस्मिकता नहीं है। आकस्मिकता के जितने भी उदाहरण हैं सब मानव अथवा इच्छाधारी से जुड़े हैं। आकस्मिकता की सम्भावता वहीं है जहां इच्छा है जहां चुनाव की स्वतंत्रता है और चुनाव की स्वतंत्रता है इसलिये अनिश्चितता है।

वास्तव में आकस्मिकता एक (*probability*) संभावना मात्र है यह संभावना कुछ चर राशियों के मान पर निर्भर रहती है। इच्छाधारी में इन चर राशियों या परिवर्तनशील गुणांक (*variable factors or variables*) को चुनने की आजादी है इस कारण सम्भावना की सत्ता है यदि यह गुणांक चुनाव करने की आजादी न हो तो सम्भावना की सत्ता निरस्त हो जाती है तदनुसार आकस्मिकता की सत्ता नहीं रहती।

इस विषय को सिक्के उछालने के उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है। जब सिक्का उछाला जाता है तो इसमें कुछ चर राशियां निहित रहती है जैसे कि सिक्के की सतह (*plane*) का धरातल से कोण एक चर राशि है, सिक्के के जिस विन्दु पर बल लगाया जा रहा है वह दूसरी चर राशि है उस बल की दिशा (*direction*) यह तीसरी चर राशि है उस बल के कारण (*centre of mass*) गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की (*linear motion*) सरल रेखा में गति तथा अन्य बिन्दुओं की अक्ष के प्रति (*rotational motion*) चक्रीय गति आदि जितनी भी चर राशियां हैं यदि सबका मान निर्धारित कर दिया जाय तो अनेक वार उछालने पर भी स्थिर परिणाम प्राप्त होगा। तब सिक्के के उछालने की क्रिया यन्त्रवत् स्थिर (*fixed*) हो जावेगी और आकस्मिकता समाप्त हो जावेगी।

अत: आकस्मिकता एक संभावना है और यह संभावना तब तक ही है जब तक परिवर्तनशील गुणाकों का मान निर्धारित नहीं है मान बदलता रहता है। यदि परिवर्तनशील गुणांक अनन्त (*infinite*) हों तो घटना कभी हो नहीं सकती क्योंकि अनन्त का अन्त (*Termination*)एक काल व स्पेस में न हो सकेगा। जब परिवर्तनशील चर राशियां सीमित (*finite,countable*) होंगी तब ही घटना घटित(*mature*)होगी। यदि सभी परिवर्तनशील चर राशियों का मान निर्धारित करदिया जाय तो संभावना एक स्थिर परिणाम में परिवर्तित हो जावेगी, तब अनेक बार दुहराने पर भी एक यन्त्र की तरह वही स्थिर परिणाम प्राप्त होगा। अतः आकस्मिकता नाम की कोई घटना प्रकृति में दृष्टिगोचर नहीं होती।

Where an act depends for its culmination on several variable factors, if the values of all the variable factors be fixed at some choosen values what so ever, then the law of probability is replaced by the law of certainty. Thus the same result follows over and over again when the act is repeated and the pattern becomes a mechanical device designed to reproduce the same event. The probabilily is ruled out and chance has no role to play

इस प्रकार आकस्मिकता चुनाव की स्वतंत्रता पर निर्भर है। मानव यंत्र नहीं है इस कारण चुनाव स्थिर नहीं है और चुनाव स्थिर इसीलिये नहीं है क्योंकि विषयी (मानव) चुनाव करने के लिये स्वतंत्र है यह स्वतंत्रता ही इच्छा शक्ति की द्योतक है। इच्छा शक्ति यन्त्रवत् कार्य नहीं करती यही इच्छा शक्ति के स्रोत का

भौतिक सत्तात्मक पदार्थ से वैलक्षण्य है, लक्षण में भिन्नता है। आकस्मिकता प्रकृति के स्वरूप में नहीं है चेतन के स्वरूप में है। चेतन के द्वारा चुनाव ही आकस्मिकता के रूप में उभरता है।

आकस्मिकता में एक विशेष बात यह है कि आकस्मिकता टाली जा सकती है किन्तु विकास नहीं रोका जा सकता। उदाहरण के लिये दो वाहनों की भिड़न्त एक आकस्मिक घटना है जिसे आगे से नहीं जाना जा सकता (*cannot be predicted*) किन्तु यह घटना अवश्यमभावी नहीं है टाली जा सकती थी यदि दो चालकों में से एक भी सतर्कता से कार्य कर पाता। इस प्रकार आकस्मिक घटना का संबन्ध चेतन से है, प्रकृति से नहीं है।

अत: डारविन के ये शब्द (*spontaneous*) एकाएक, (*accidental*) आकस्मिक (*fortuitous*) प्रकृति से विकास के संबंध में अर्थहीन हैं।

डारविन का (*law of natural selection*) प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है।

प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके डारविन महोदय ने अनजाने ही यह स्वीकार कर लिया है कि जड़ प्रकृति में हर कदम पर निर्वाचन की शक्ति निहित है। इस प्रकार डारविन महोदय ने भौतिक जड़ प्रकृति को चेतना सहित मान लिया है और प्रकृति में प्रयोजन और हेतु आरोपित कर दिये हैं। प्राकृतिक चुनाव एक शब्द जाल है यह चुनाव कौन करेगा।

चुनाव (*selection*) का अर्थ यह है कि चुनाव करने वाले में चुनाव करने की स्वतन्त्रता (*option*) है। इस स्वतंत्रता का उपयोग वही कर सकता है जिसमें न केवल इच्छा शक्ति हो वरन् उस इच्छा शक्ति का उपयोग करने में प्रयोजन भी हो। क्या जीव कोष में भी यह इच्छा शक्ति है तथा उस इच्छा शक्ति के द्वारा स्वतंत्र रूप से चुनाव करने की शक्ति है ? क्या कोई भी प्राणी अपने शरीर में किसी नवीन अंग के विकास के लिये किसी प्रकार का चुनाव करने के लिये सक्षम है या ये अंग उसकी इच्छा के बिना ही विकसित होते रहते हैं तो फिर वह चुनाव कौन करता है, प्राकृतिक चुनाव के नियम (*law of natural selection*) का नियामक कौन है यदि कोई नहीं है तो चुनाव किया जाना सत्य नहीं है यदि है तो चुनाव करने वाला प्रकृति से भिन्न है जिसमें सप्रयोजन निर्वाचन की शक्ति है। जीव कोष में न निर्वाचन की शक्ति है न प्रयोजन है।

यदि यह कहो कि जीव कोष में प्रयोजन तो नहीं है किन्तु निर्वाचन शक्ति

है। तो भी कठिनाई है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ही मूल तत्व से करोड़ों वर्ष उपरान्त नक्षत्रादि बनते हैं तब कहीं जाकर पृथ्वी बनती है फिर कहीं करोड़ वर्ष बाद वनस्पति बनती है तब कहीं जाकर जीव कोष बनता है तो जब जीव कोष नहीं था तो प्राकृतिक चुनाव किसमें निहित था। फिर पृथ्वी पर जीवन के लिये, जीव कोष के विकास के लिये उपयुक्त परिस्थिति का चुनाव कैसे हुआ ताकि जीव कोष जीवित रहे। साधारण जीव कोष ही सर्वप्रथम कैसे अस्तित्व में आया क्योंकि प्रकृति में प्रयोजन नहीं है न ही जीव कोष के अस्तित्व में आने के पूर्व प्राकृतिक चुनाव की सत्ता है। जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है प्रकृति में आकस्मिक घटना भी नहीं है। इस प्रकार साधारण जीव कोष का अस्तित्व में आना भी नहीं समझाया जा सकता।

जीव कोष में केवल क्रिया है जैसी की रसायनिक पदार्थों में होती है इस कारण जीव कोष आपस में मिलकर क्रिया करते तथा जटिल जीव कोष तैयार करते हैं। ये जीव कोष ही प्राणी की शरीर रचना की आधारभूत इकाई हैं जीव-कोषों को वैदिक साहित्य में प्राण तत्व कहा गया है किन्तु यह प्राण तत्व चेतन नहीं है। चेतन के लक्षण इच्छा, निश्चय, ज्ञान, भोक्तृत्व आदि जीव कोष में नहीं होते। इनका विवरण आगामी अध्यायों में दिया जा रहा है।

क्या यह जगत उत्पत्ति प्रथम घटना है — पूर्व अनुच्छेद में यह निश्चय हो चुका है कि प्रकृति में आकस्मिकता नाम की कोई घटना नहीं होती। वर्तमान अनुच्छेद में इसी विषय पर अन्य दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

यह जगत एक आकस्मिक घटना है इस मत के प्रवक्ता पर यह सिद्ध करने का दायित्व आता है कि वर्तमान जगत प्रथम आकस्मिक घटना है इस वर्तमान जगत के पूर्व किसी अन्य सृष्टि (*cosmos*) का विकास नहीं हुआ।

इस मत का प्रवक्ता यदि यह कहे कि जगत उत्पत्ति–लय अपने आप होता रहता है तो वह विरोधाभास के संकट में ग्रसित होता है। सृष्टि उत्पत्ति लय को नियमित क्रम मान लेने पर उनके मत से विरोध उत्पन्न होगा क्योंकि आकस्मिक घटना यदि नियमित रूप से घटित हो तो उसकी आकस्मिकता का स्वभाव नष्ट हो जाता है। फिर वह एक ऐसा घटना क्रम है जिसके घटित होने की भविष्यवाणी की जा सकती है। उदाहरण के लिये पृथ्वी अपनी धुरी पर २४ घंटे में परिभ्रमण करती है यह आकस्मिक घटना नहीं है। प्रतिवर्ष मानसून वर्षा लेकर आती है यह नियमित घटना है आकस्मिक नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वर्तमान सृष्टि प्रथम एवं अपने आप में अनूठी घटना है तो प्रश्न उठता है कि अनन्त काल से पड़े हुए द्रव्य में एकाएक एक शुभ मुहूर्त में सृष्टि कैसे विकसित हो गयी, अनन्त काल तक जो रिक्त काल सत्ता है उसे कैसे समझाया जायगा। *There is no valid explaination for infinite gap of time failing to culminate into cosmos.*

जो व्यवधान अनन्त काल तक सृष्टि विकास रोके था उस पर से एकाएक कैसे अवरोध हट गया ? अतः इस मत के प्रवक्ता को यह मानना पड़ेगा कि जो विकास अनन्त काल अवधि में न हो सका वह चमत्कारिक ढंग से संपन्न हो गया। यह मान्यता विरोधाभास से आपन्न है। जो विकास अनन्तकाल में न हो सका वह हो नहीं सकता, अनन्त का अतिक्रमण कैसे होगा, अनन्त का अंत अकल्पनीय है। अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रकृति में जगत उत्पन्न करने का बीज नहीं है प्रकृति निर्बीज है निर्मूल है सृष्टि उद्भूत करने में, जिसका बीज विद्यमान है वह फलित होने के लिये, विकसित होने के लिये अनन्तकाल तक प्रतीक्षा क्यों करेगा।

विज्ञान की दृष्टि से भी यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि यह विज्ञान के प्रस्थापित सिद्धान्त (न्यूटन का नियम) का अतिक्रमण करता है।

जगत रूप में विकसित होने के पूर्व अनन्त काल से पड़ा हुआ द्रव्य या तो स्थिर था अथवा गतिशिल था। यदि द्रव्य को स्थिर माना जावे तो अनन्त काल से स्थिर पड़े हुए द्रव्य में बिना बाह्य कारण के एकाएक परिवर्तन नहीं हो सकता।

यदि उक्त द्रव्य को गतिशील माना जावे तो यह देखना पड़ेगा कि गति स्थायी (*constant*) हो सकती है अथवा परिवर्तनशील (*variable*)। यदि गति को परिवर्तनशील माने तो फिर वही प्रश्न उठता है जिस पर पूर्व विचार कर चुके हैं कि वह परिवर्तन जो अनन्तकाल तक अव्यवस्था में था, कैसे एकाएक इस जगत रूप में परिणत हो गया। अनन्त काल की अव्यवस्था (*chaos*) की परिणति व्यवस्था (*cosmos*) में नहीं हो सकती। इस समस्या का हल असंभव प्रतीत होता है।

अतः द्रव्य को स्थायी गति (*constant motion*) वाला मानना पड़ेगा किन्तु तब यह बात सामने आती है कि स्थायी गति क्रम कालान्तर में अपने आप भंग नहीं हो सकता। स्थायी गति क्रम बाह्य बल के हस्तक्षेप के बिना अपनी अवस्था नहीं बदल सकता (न्यूटन का नियम) पुनः जगत उत्पत्ति कैसे संभव होगी।

इस प्रकार स्थायी गति से जगत उत्पत्ति हो नहीं सकती और परिवर्तनशील अवस्था अनन्त काल के अतिक्रमण के पश्चात् जगतरूप में विकसित हो यह भी नहीं

हो सकता । अनन्तकाल से परिवर्तन में संलग्न द्रव्य जब जगत रूप में विकसित न हो सका तो आगे भी न होगा । अतः प्रत्येक दृष्टिकोण से आकस्मिकता का प्रस्ताव अमान्य है । इससे यह फलित होता है कि सृष्टि उत्पत्ति—लय एक नियमित अनादि अनन्त क्रम है । यही पक्ष हर दृष्टिकोण से आक्षेपरहित सिद्ध होता है ।

जड़ प्रकृति में यंत्र की तरह जो नियमितता होने का निश्चित उपसंहार है उसका यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि इस यन्त्रवत् नियमितता का नियामक कोई काल से अतीत चेतन शक्ति है ।

७. अब आगामी अनुच्छेदों में प्राचीन भारत में व्याप्त मतों की समीक्षा की जावेगी ।

अवैदिक मतों की समीक्षा—

१. शून्यवाद का मत— अभाव से भाव की उत्पत्ति देखी जाती है । बीज को नष्ट करके अंकुर उत्पन्न होता है । यदि बीज यथावत् बना रहे तो अंकुर की उत्पत्ति न होगी । बीज का विनाश अंकुर की उत्पत्ति का कारण है इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है क्योंकि बिना विनाश हुए उत्पत्ति नहीं होती ।

समीक्षा— वचन परस्पर विरोधी होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति का प्रयोग उचित नहीं है नष्ट होकर प्रादुर्भूत होता है ये प्रतिज्ञाएँ परस्पर विरोधी हैं ।

यदि अंकुर बीज को नष्ट करके उत्पन्न होता है तब तो अंकुर को बीज के नष्ट होने के पूर्व विद्यमान होना चाहिये ताकि अंकुर का विनाश कर सके । अंकुर जब बीज को विनष्ट करने आता है तो स्पष्ट है कि उस काल में दोनों विद्यमान हैं । दोनों का एक काल में भाव मानने पर यह अभाव से भाव की उत्पत्ति का प्रसंग नहीं है । जिसकी (अंकुर की) उत्पत्ति नहीं हुई है उसके द्वारा नष्ट हुआ कहा जाना विरोधाभास है ।

यदि कहो कि अविद्यमान अंकुर ही बीज के विनाश में कारण है तो यह अभाव से अभाव की उत्पत्ति की प्रतिज्ञा है क्योंकि अविद्यमान अंकुर भी अभाव रूप है तथा बीज नष्ट होकर अभाव रूप हो जाता है अतः शून्य से शून्य की उत्पत्ति ही सिद्ध हुई ।

वादी— शून्य से शून्य की उत्पत्ति केवल शून्य की सत्ता की सूचक है तथा बीज विनाशोपरान्त शून्य में परिणत हो जाता है उसी शून्य से अंकुर की उत्पत्ति होती है इस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति उपपन्न हुई ।

समीक्षा— न, विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः। न्याय सूत्र
नहीं, नष्ट हुए बीजों से (अंकुर की) उत्पत्ति असिद्ध होने से।

यदि अभाव से ही भाव सम्भव है तो अंकुर की उत्पत्ति के लिये बीज की आवश्यकता न रही, उस स्थिति में खेत में बीज का बोया जाना अयुक्त है। बीज के विनाश से उत्पत्ति होना और बीज का न होना दोनों स्थितियां समान हैं। यदि शून्य से ही उत्पत्ति होती है तो बीज का प्रयोग अनावश्यक है तब तो विना बीज के ही अंकुर होना चाहिये अथवा किसी बीज से मनचाहा अंकुर हो जाना चाहिये जैसे चने के बीज से गेहूँ के अंकुर का होना सम्पन्न होना चाहिये। विशिष्ट बीज से विशिष्ट प्रकार के अंकुर का होना यह दर्शाता है कि बीज की अन्तरंचना में भेद है।

वास्तव में भिन्न-भिन्न प्रकार के बीज के आवरण के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रकार का अंकुर होता है यही प्रस्फुटित हुए अंकुर की भिन्नता का कारण है। शून्यवाद के अनुसार पकाये हुए बीज से भी अंकुर होना चाहिये किन्तु यह प्रत्यक्ष का विरोधी है। साथ ही खाद, मिट्टी, हवा, पानी, प्रकाश इन सभी के संसर्ग से अंकुर प्रस्फुटित होता तथा वृद्धि को पाता है। इन कारणों में से किसी के भी यथोचित अभाव में अंकुर नष्ट हो जाता है अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, भाव से भाव की उत्पत्ति होती है। शून्यवाद भ्रमोत्पादक है।

२. बौद्ध दर्शन का सर्व-अभाववाद (शून्यवाद)

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः। (न्या. ४।१।३७)
सब भावों में अभाव है अन्योन्याभाव सिद्धि से।

गाय में घोड़े का अभाव तथा घोड़े में गाय का अभाव है। इस प्रकार सभी में सभी अन्य का अभाव होने से सब अभाव रूप ही हैं।

समीक्षा— इस तर्क में प्रतिज्ञा वाक्य तथा हेतु में परस्पर विरोध है। प्रतिज्ञा वाक्य निषेध रूप है कि 'सब कुछ अभाव है' यदि सभी अभाव है तो इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये हेतु तथा दृष्टान्त के लिये कोई भी सत्ता शेष न रही। यदि सभी कुछ शून्य है तो इसे सिद्ध करने के लिये कुछ शेष न रहा।

यदि सब कुछ अभाव है तो 'सर्वम् भावेषु' पद निराधार हो गया तब भाव (गाय, घोड़ा) कहां रह गये कि उनमें अन्यों का अभाव सिद्ध किया जा सके। यदि हेतु को स्वीकार[1] कर भाव का अस्तित्व मानते हो तो सर्वम् अभावः यह प्रतिज्ञा झूठी होती है अतः प्रतिज्ञा असिद्ध है।

१. गाय में घोड़े का अभाव यह हेतु है।

न्याय दर्शनकार (४।१।३८) अन्य हेतु बतलाते हैं कि–

स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।

दर्शनकार की प्रतिज्ञा है प्रत्येक द्रव्य अपने स्वाभाविक धर्म से सिद्ध है।
इसमें हेतु है– द्रव्य में गुण, स्वभाव, क्रियावत्त्व, सामान्य, विशेष धर्मों का होना।
दृष्टान्त है– सोना में पीलापन, चमक आदि गुणों के आश्रयत्व का होना। अन्य ठोस पदार्थों से ठोसपन में समानता तथा लोहा आदि अपेक्षाकृत कठोर से नर्म होने को विशेषता है।
उपनय यह है कि द्रव्य में क्रियावत्त्व गुणाश्रयत्व सामान्य विशेष धर्म हैं।
निगमन यह है कि प्रतिज्ञा वाक्य सिद्ध है।

इस युक्ति को सीधी भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव है। गाय में अन्यों का अभाव है इसी कारण से उसमें गौ का भाव है। आप गौ में गौ के होने से इन्कार नहीं कर सकते। गौ में गौ गवात्मरूप से तथा अश्व में अश्व अश्वात्म रूप से सिद्ध हैं अतः सर्व अभाव नहीं है।

वादी — न स्वभावसिद्धिः, आपेक्षिकत्वात् ।

सभी भावों की सत्ता (आपेक्षिकत्व) सापेक्ष (*relative*) होने से पदार्थों की सत्ता अपने स्वधर्म से स्वभावसिद्धि नहीं है। कोई वस्तु अपने स्वरूप से विद्यमान नहीं है। किसी पदार्थ की इकाई को प्रकाश में लाकर उसकी भिन्न सत्ता प्रस्थापित करने में हेतु उस इकाई में अन्यों का अभाव है। अतः किसी पदार्थ की सत्ता अन्य पदार्थों की अपेक्षा से है स्वतंत्र स्वरूपसिद्ध सत्ता किसी पदार्थ की नहीं है।

जब यह कहा जाता है कि यह गाय है तो उसमें सभी अन्य पदार्थों के अभाव होने से ही उसे अन्य पदार्थों से भिन्न, पृथक् रूप में जाना जाता है। यदि भेद की अपेक्षाकृत सत्ता (*relative position*) न हो तो गाय को गाय ही कैसे जाना जायेगा वह घोड़ा क्यों नहीं है। इससे यह निश्चित हुआ कि किसी वस्तु की सत्ता की प्रतीत में आपेक्षिकत्व (*relativity, relativeness*) ही बोध कराने वाला ज्ञान है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी सत्ता के लिये उसमें (वस्तु में) निहित अपेक्षा सामर्थ्य पर निर्भर हैं। यह अपेक्षा सामर्थ्य ही उस भेद बुद्धि (अन्य से पृथकत्व का भाव) की जनक है जो उस वस्तु की इकाई को सत्ता को प्रस्थापित करती है। अतः कोई वस्तु स्वभाव धर्म से सिद्ध नहीं है वरन् वस्तु में निहित अपेक्षा सामर्थ्य (*capability to identity itself relative to others* अपेक्षा सामर्थ्यात्, वात्स्यायन भाष्य) जो अभावरूप है उस वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने में हेतु है।

इसमें दृष्टान्त यह है - कि गाय में 'गोत्व' गाय में जो अन्य सभी के अभाव की सामर्थ्य है उसी से प्रस्थापित है।
अतः साध्य सिद्ध है।
अभाव से भाव की सिद्धि होने से सभी कुछ अभाव अर्थात् शून्य से उत्पन्न है।

समीक्षा — व्याहतत्वादयुक्तम। न्याय सूत्र।

व्याघात दोष से आपेक्षिकत्व युक्त नहीं है अर्थात् आपका सिद्धान्त विरोधाभासी (*self contradictory*) है। लघु और दीर्घ ये दो व्यवहार देखे जाते हैं इनकी सत्ता कैसे प्रस्थापित करोगे। आपके सिद्धान्तानुसार अभाव से भाव की सिद्धि होती है। लघुत्व के अभाव से दीर्घत्व सिद्ध है अतः अब जब दीर्घत्व की सत्ता प्रस्थापित हो गयी, तब दीर्घत्व अभाव रूप न रहा क्योंकि सत्ता का अर्थ भाव है। दीर्घत्व के सत्तारूप हो जाने से अब लघुत्व को कैसे, किस अभाव से सिद्ध करोगे ?

एवम् इतरेतराश्रयोरेकाभावेऽन्यतराभावाद् उभयाभाव इति व्यवस्था-ऽनुपन्ना। वात्स्या. भाष्य।

अतएव एक (लघु) के अभाव से दूसरे (दीर्घ) की सत्ता मानने तथा दूसरे (दीर्घ) के अभाव से प्रथम (लघु) की सत्ता मानने से अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है।

लघुत्व के अभाव से दीर्घत्व की सत्ता सिद्ध हुई अब जब तक दीर्घत्व को पुनः असत्ता रूप नहीं मानोगे लघुत्व की सिद्धि जो साध्य है (सिद्ध होनी है) कैसे उपपन्न (सिद्ध) होगी। इस प्रकार आपकी व्यवस्था में प्रथम लघुत्व का अभाव माना गया अब दीर्घत्व का अभाव मानने के लिये यदि आप प्रस्तुत होंगे तो दोनों का अभाव ही सिद्ध हो पाया।

इस सिद्धान्त में विरोधाभास है जिसे इस प्रकार प्रकाश में लाया जा सकता है। गाय में सबके अभाव से गाय की सत्ता सिद्ध हुई अब गाय की सत्ता सिद्ध हो जाने से अन्य सत्ताओं की सिद्धि में गाय की सत्ता का अभाव न रहा। अतः घोड़े की सिद्धि अन्य सभी के अभाव से है किन्तु गाय के अभाव से नहीं है सिद्धान्त यहां असिद्ध हो गया। घोड़े की सत्ता सभी के अभाव से सिद्ध नहीं हो सकती अन्यथा घोड़े की सत्ता की सिद्धि में अन्य सभी का अभाव किन्तु गाय का भाव मानना पड़ेगा क्योंकि गाय की सत्ता सिद्ध हो चुकी है।

इस प्रकार घोड़े का भाव सिद्ध हुआ। अब हाथी के भाव की सिद्धि में गाय और घोड़े को छोड़कर शेष सभी का अभाव है। इस प्रकार जब अन्तिम पदार्थ की सिद्धि शेष रही तो केवल उस ही पदार्थ को छोड़कर शेष सभी का भाव सिद्ध हो

गया। अब अन्तिम सत्ता अपने ही अभाव से भाव रूप सिद्ध हुई। अतः सबके अभाव से उसका भाव सिद्ध न हुआ वरन् अपने स्व-अभाव से भाव सिद्ध हुआ। इस प्रकार सबके अभाव (अपेक्षा) से वस्तु के भाव का सिद्धान्त खण्डित हुआ, अब सिद्धान्त को इस प्रकार प्रतिपादित करना पड़ेगा – प्रत्येक वस्तु अपने ही अभाव से भाव रूप है।

इस प्रकार वस्तु भाव रूप तो है अपने ही अभाव से सही। पुनः भाव और अभाव में भेद न रहा। किसी वस्तु में उसका स्वयं का अभाव नहीं है, न ही ऐसा आपकी प्रतिज्ञा से फलित होता है क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा है प्रत्येक वस्तु अन्यों की अपेक्षा से है स्वयं की अपेक्षा से नहीं। किसी वस्तु में उसका स्वयं का अभाव आपको भी मान्य नहीं है अतः इस अन्तिम वस्तु की सत्ता अपने स्वभाव से सिद्ध हुई। क्रम २ से अन्तिम वस्तु भिन्न-भिन्न लेने से सभी की सत्ता भाव से सिद्ध हुई।

३. चार्वाक का अनिमित्तवाद—

अनिमित्तितो भावोत्पत्ति कण्टकतैक्ष्ण्यादि दर्शनात्।

कांटे आदि बिना निमित्त के तीक्ष्ण होते हैं अर्थात् ऐसा कोई साधन नहीं दिखाई देता जो कांटे को तीक्ष्ण बना दे ऐसे ही शरीर की उत्पत्ति बिना निमित्त के है।

समीक्षा— निमित्त उसे कहते हैं जो उस वस्तु की उत्पत्ति में कारण हो। यदि कांटे की उत्पत्ति में अनिमित्त निमित्त है तो उत्पत्ति बिना निमित्त कहां रही। उसका निमित्त तो है। किसी वस्तु का न होना ही उसके होने का निमित्त (कारण) नहीं हो सकता जैसे अंकुर का न होना अंकुर के होने का कारण नहीं हो सकता। अंकुर के होने का कारण बीज है जो अनिमित्त नहीं है। देहादि की उत्पत्ति में माता पिता के रज व शुक्राणु निमित्त हैं।

वादी— सर्वमनित्यम्, उत्पत्तिविनाश धर्मकत्वात्।

उत्पत्ति विनाश धर्मक होने से (सर्वम् अनित्यम्) सभी अनित्य हैं।

समीक्षा— यदि सभी पदार्थ अनित्य हैं तो सभी द्रव्यों में अनित्यता भी है अतः

अनित्यता- अनित्यत्वात् सर्वम् नित्यम्।

अनित्यता के अनित्यत्व से अनित्यता का अभाव, उच्छेद होना हुआ। अनित्यता के न रहने पर सब पदार्थ नित्य हो गये।

वादी— उस अनित्यता में भी अनित्यत्व है जैसे अग्नि सबको जलाकर स्वयं भी नष्ट हो जाता है इसी प्रकार सब पदार्थों की अनित्यता सबको नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाती है।

समीक्षा— व्यवस्था उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष के अनुसार देखी जाती है जो पदार्थ उत्पत्ति विनाश धर्मी हैं वे अनित्य हैं किन्तु जो उत्पत्ति विनाश धर्मक नहीं हैं उन्हें अनित्य नहीं कह सकते वे नित्य कहे जावेंगे जैसे आकाश, आत्मा, प्रकृति के चरम खण्ड।



अध्याय ६

सत्ता की निरन्तरता एवं सृष्टि प्रलय का अविरल प्रवाह

जगत के पदार्थों में हम अनित्यता देखते हैं। अनित्य उसे कहते हैं जो उत्पन्न हो बढ़े, घटे और नष्ट हो जावे। इन पदार्थों को देखते-देखते हमारी धारणा यह हो गयी है कि जगत में कोई पदार्थ नित्य, कोई सत्ता नित्य है ही नहीं। जगत में प्रत्येक वस्तु जोड़े से देखी जाती है। दिन का विलोम रात्रि है। प्रकाश का विलोम अंधकार, शून्य का अनन्त, ताप का शीतलता, नर का मादा है। कोमलता में पुष्प है तो कठोरता में हीरा है, इस्पात है। जन्म का विलोम मृत्यु है अतः अनित्य के विलोम नित्य की भी सत्ता होना चाहिये। आगामी अनुच्छेदों में इस विषय पर चर्चा होगी कि जगत की अनित्य–सत्ता, नित्य–प्रकृति पर आधारित है अर्थात् अनित्य द्रव्यों का आश्रय, वह नित्य सत्ता है जिसे मूल प्रकृति कहते हैं।

सत्ता की निरन्तरता— इस सिद्धान्त को कि– **नाभावो विद्यते सतः** सत् का तीनों कालों में अभाव नहीं होता, अध्याय ३ में प्रस्थापित किया जा चुका है।

प्रकृति के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल प्रकृति सृष्टि रचना काल में मूल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त जगत अवस्था तक चार मध्यवर्ती अवस्थाओं का निष्क्रमण करती हुई जगत रूप में अवस्थित होती है तथा प्रलयकाल में विपरीत क्रम से मूल अवस्था की ओर प्रयाण करती है।* इस प्रकार मूल प्रकृति अपनी पांच कलाओं को प्रदर्शित करती है दृश्य जगत प्रकृति की पांचवी कला है।

मूल भौतिक सत्ता का कभी अभाव नहीं होता। मूल सत्ता किसी भी काल में पांच अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में रहती है यह तथ्य सत्ता की निरन्तरता, (मूल तत्व) मूल प्रकृति की नित्यता का द्योतक है, अवबोधक है। इस दर्शन को ही विज्ञान ने ऊर्जा संरक्षण के सिद्धान्त में निहित किया है जिसके अनुसार भौतिक पदार्थ न तो पूर्णतयः नष्ट किया जा सकता है न ही शून्य से पदार्थ की उत्पत्ति संभव है।

---

* लेखक की अन्य कृति – 'ऋग्वैदिक सृष्टि उत्पत्ति एव आधुनिक विज्ञान' भाग १, अध्याय ७ देखें।

उदाहरण के लिये पानी को गर्म करने से भाप में परिवर्तित हो जाता है नष्ट नहीं होता। भाप को ठंडा करने से पुनः पानी प्राप्त हो जाता है पानी को अधिक ठंडा करने से वर्फ वन जाती है। गर्मी पाकर वही वर्फ फिर पानी बन जाता है। इस प्रकार वह मूल द्रव्य जो पानी के रूप में है सदैव वर्तमान रहता है कभी पानी, कभी वर्फ, कभी भाप किन्तु द्रव्य-सत्ता का अभाव कभी नहीं देखा जाता। फिर यह जगत माया कैसे है ?

माया से प्रादुर्भूत हुए जादू के संसार में कारण–कार्य व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि यह जगत विज्ञानमात्र* है तो भी स्वप्नवत् संस्कार मात्र जगत में कारण–कार्य व्यवस्था अर्थात् सत्ता की निरन्तरता (*continuation*) नहीं हो सकती। द्रव्य का रूपान्तरित होना द्रव्य के परमाणुओं की आन्तरिक व्यवस्था में परिवर्तन मात्र से होता है किसी तत्व के अभाव से नहीं होता।

निश्चित कारण से निश्चित कार्योत्पत्ति — कारण–कार्य सिद्धान्त का यह तात्पर्य है कि निश्चित कारण से निश्चित कार्य उत्पन्न होता या सम्पन्न होता है। घड़ा मिट्टी से ही बनता है इस बात का घड़ा बनाने के पूर्व भी कुम्हार को ज्ञान होता है। सोने से अलंकार बनते हैं यदि जगत माया है तो मिट्टी से अलंकार क्यों नहीं बन सकते, मिट्टी से सोना क्यों नहीं वन सकता। जोतने, बोने और काटने आदि के श्रम से ही अन्न क्यों उत्पन्न होता है। इस्पात, सीमेन्ट, अल्युमीनियम आदि को बनानें के लिये संयत्र क्यों लगाये जाते हैं। निश्चित वस्तु से ही निश्चित वस्तु क्यों वनती है। इस सिद्धान्त का कोई अपवाद नहीं है। प्रयोगशाला के अन्दर एक नीबू का बीज भी नहीं बनाया जा सकता जिसको जमीन में बो देने से नीबू का वृक्ष उत्पन्न हो जावे। बीज फल से प्राप्त होता है फल वृक्ष से प्राप्त होता है वृक्ष बीज से प्राप्त होता है इस प्रकार यह जगत कारण–कार्य व्यवस्था की सुदृढ़ नींव पर आधारित है।

कार्य-कारण की व्यवस्था का स्वरूप इतना सुस्पष्ट है कि कोई भी वस्तु जैसे सीमेन्ट, इस्पात या कोई रसायनिक यौगिक, दवा, राकेट, यंत्रादि किन अवयवों से वन सकेंगे इनका ज्ञान बनाने वाले वैज्ञानिक को, उद्योग के नियंत्रक को बनाने के पूर्व भी रहता है उसी के अनुरूप संयत्र में वे अवयव एकत्र किये जाते हैं फिर उन अवयवों से विधि पूर्वक ताप, दबाव आदि के द्वारा इष्ट वस्तु का निर्माण होता है। दवा की दूकानों में हजारों प्रकार के रसायनिक पदार्थ दवाओं के रूप में उपलब्ध

---

* विज्ञानवाद एक प्राचीन मत है जिसके अनुसार जगत सत्ता वास्तविक नहीं है केवल स्वप्नवत् मानसिक क्रिया का प्रतिफल है।

हैं जो रासायनिक प्रयोगशालाओं में निर्माणाधीन रहते हैं अत: जगत को माया कहना अवैज्ञानिक है पदार्थ के स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञता का सूचक है।

अनित्य जगत के मूल में नित्य सत्ता अवस्थित है — जगत के सभी पदार्थ यौगिक हैं ये सूक्ष्म कणों के संयोग से बने हैं। इन कणों को यदि विभाजित किया जाय तो हमें यह विदित होता है कि ये अन्य सूक्ष्मतर कणों के यौगिक हैं। इस प्रकार यदि मानसिक रूप से विभाजन करते जावें तो कहीं जाकर रुकना पड़ेगा अर्थात् इस विभाजन की क्रिया की कोई सीमा होगी। इस विभाजन की अन्तिम सीमा आ जाने पर जो तत्व शेष रहता है वह अब आगे अविभाज्य है अखड है। यह अखंड इसलिये है कि शेष रहा तत्व यौगिक नही है। विभाजन यौगिक का ही हो सकता है जो अवयवों का समूह है; विभाजन केवल घटकों के संघात का हो सकता किन्तु निर् अवयव, घटकों से रहित मूल सत्ता का विभाजन नहीं हो सकता। इस अखंड मूल सत्ता को वेद में अदिति कहा गया है अदिति शब्द का शब्दार्थ अखंड है।

यह विश्लेषण पूर्णतय: वैज्ञानिक है, विज्ञान को मान्य है। आज विज्ञान भी मूल तत्वों के अन्वेषण में संलग्न है। अभी विज्ञान ने इलेक्ट्रान, प्रोट्रान, पाजीट्रान, म्यूओन आदि अनेक प्रकार के कणों का अन्वेषण किया है। विज्ञान ने मूल सत्ता का नाम फन्डामेन्टल पार्टिकिल्स रखा है तथा उनकी अनवरत खोज जारी है। पदार्थ की सत्ता के सम्बन्ध में विज्ञान का मत अन्तिम है क्योंकि विज्ञान प्रयोगसिद्ध ज्ञान पर आधारित है। भौतिक द्रव्य सत्ता का जो भी चरम तत्व हो वह फन्डामेटल है अदिति है अत: विज्ञान सम्मत इस प्रयोगसिद्ध मान्यता के सामने प्रत्यक्ष के विपरीत अदर्शन पर आधारित तथ्य मान्य नहीं हो सकता कि जगत माया है ब्रह्म में अध्यारोपित सत्ता है। दर्शन की मान्यता भी इस तथ्य के प्रतिकूल है इस पर पूर्व अध्यायों में चर्चा हो चुकी है।

प्रकृति की अविनश्वरता संबन्धी शास्त्र सम्मत मान्यता — ऋग्वेदानुसार भौतिक जगत के मूल में एक अखंड सत्ता विद्यमान है जो त्रिवर्गी है इस त्रिवर्गी संघात का नाम अदिति है ऋग्वेद में यह कहा गया है[1] कि समस्त जगत तीन बीज रूप मूल तत्त्वों पर आधारित है उन्हीं तीन मूल तत्त्वों का परिणाम है उन्हीं तीन के परस्पर संयोग से क्रमपूर्वक रचा गया है। यह रचना तत्त्वों के गुणानुसार, नियमनुसार है जिसे वेद में ऋत् कहते हैं इन गुणों का, इन नियमों का उलघन

१- त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेत: - जगत के आधारभूत ३ तत्व हैं। ऋ. ७। ३७। ७
त्रिनाभि चक्रम् अजरम् अनर्वम् यत्रेमा विश्व भुवना अधितस्थु। नाभि चक्र में तीन शाश्वत् स्वतंत्र तत्व हैं जिन पर समस्त लोक स्थित हैं। ऋ. १।१६४।२

ईश्वर भी नहीं कर सकता अपितु प्रकृति के गुणों के अनुसार ही जगत रचना करता है। यही सत्य अन्य शास्त्रों में भी दर्शनीय है।

इस प्रकार प्रकृति सृष्टि-प्रलय के अनादि अनन्त चक्र में अवस्थित है। प्रकृति की यात्रा कभी समाप्त नहीं होती। इस सत्य को उपनिषद् ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाकशाख एषोऽश्वस्थः सनातनः। क०

ऊपर की ओर (मूल प्रकृति) मूल वाला नीचे को ओर शाखा वाला यह जगत सनातन पीपल का वृक्ष है।

तथा गीता ने इन शब्दों में —

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

वही अर्थ है सनातन शब्द के स्थान पर अव्यय शब्द है जिसका अर्थ है अविनश्वर, अखंड, अपरिवर्तनशील।

इस प्रकार यह जगत प्रवाह से सनातन है शाश्वत् है जो सनातन है उसके माया होने का प्रश्न नहीं उठता यह ईश्वर की त्रिकाल शक्ति प्रकृति पर आधारित है शास्त्रों में कहीं भी माया को धोखा, झूठ, फरेब, जादू नहीं कहा गया है वरन् उलटे ही उसे दिव्य शक्ति कहा गया है —(७।१४)

दैवी ह्येषा गुणमयी मम् माया दुरत्यया। गीता

यह मेरी माया गुणमयी दिव्य स्वरूप बड़ी दुस्तर है उलङ्घनीय नहीं है।

माया असत्ता नहीं है माया प्रकृति का ही नाम है।

मायाम् तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे. ४।१०

प्रकृति को ही जानो मायापति ईश्वर को ही।

क्या मायापति जादूगर है। जादू अर्थात् अभाव का, शून्य का अधिपति है फिर ईश कैसा फिर ब्रह्म कैसा। जादूगर भी दूसरे को ही जादू दिखाता है स्वयं तो वह उस जादू के रहस्य को जानता है पर ब्रह्म तो अपने जादू से स्वयं मोहित हो जाता है अपनी माया से भ्रमित हो जाता है। अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त कि जगत माया[1] है शास्त्र के प्रतिकूल है। प्रकृति को अज, अनादि कहा गया है नित्य कहा गया है शाश्वत् कहा गया है[2]।

---

१. अद्वैतवादी माया का अर्थ भ्रम लेते हैं जैसे मृगतृष्णा में जल। किन्तु ऋग्वेद में माया प्रकृति की अवस्था विशेष है देखिये लेखक का ग्रन्थ (ऋग्वैदिक........ विज्ञान भाग १, अध्याय ४)

२. उपरोक्त ग्रन्थ अध्याय ४, तथा अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। श्वे. उप. ४।५

आदि शक्ति जेहि जग उपजाया, सो अवतरेउ मोरि यह माया। तुलसी. रामा.

सृष्टि प्रलय की अविच्छिन्न धारा:— प्रकृति अनादि अनन्त काल चक्र में परिभ्रमण कर रही है ब्रह्म दिन में सृष्टि रूप में प्रकट होती है ब्रह्म रात्रि में लय की अवस्था में अव्यक्त सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है। यह तथ्य अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

अव्यक्ताद् व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥ गीता ८।१८

सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थ दिन (सृष्टिकाल) के आगमन पर अव्यक्त सत्ता प्रकृति से उत्पन्न होते हैं तथा रात्रि (प्रलयकाल) के आगमन पर (तत्र एव) उस ही अव्यक्त नाम से कहे जाने वाले मूल स्वरूप में छिप जाते हैं। वह अव्यक्त संज्ञा वाली प्रकृति है। अव्यक्त का अर्थ है अप्रकट, अप्रत्यक्ष, अदृश्यमान् है, असत्ता नहीं है। श्लोक कहता है उस ही अव्यक्त में लय (लय=प्रच्छन्न, छिपा हुआ) हो जाता, छिप जाता है।

आगे के श्लोक में उस तथ्य की पुनरावृत्ति हुई है—

भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे।

वह ही यह भूत समुदाय उत्पन्न हो होकर प्रलय के प्रवेश काल में प्रकृति के वश में हुआ छिप जाता है, मूल सत्ता में, मूल कारण रूप होकर रहता है सृष्टि काल में पुन: प्रकट होता है। अप्रत्यक्ष अवस्था से प्रत्यक्ष अवस्था में आता है।

सत्ता का कभी अभाव नहीं होता। शून्य से, अभाव से उत्पत्ति नहीं होती। वही मूल प्रकृति सृष्टिकाल में अव्यक्त से व्यक्त होती है, प्रलयकाल में व्यक्त अवस्था से फिर अव्यक्त अवस्था में जाती है। 'वह ही' शब्द का प्रयोग सत्ता की निरन्तरता का द्योतक है। हम जब ऐसा प्रयोग करते हैं कि यह वही व्यक्ति है जो कल आया था तब व्यक्ति निश्चित हो जाता है। यह वही व्यक्ति है जो बार-बार आता है तब अनिश्चितता कहां रही वह व्यक्ति निश्चित व्यक्ति हो गया, सत्ता की निरन्तरता प्रमाणित हो गयी।

प्रश्न— यह अव्यक्त सत्ता ईश्वर है उसके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता है ही नहीं।

समीक्षा— इस तथ्य का नीर-क्षीर न्याय स्वयं गीता ने कर दिया है यहां अनुमान करने की कोई गुंजाइश नहीं है। श्लोक कहता है—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातन:।

परन्तु उस अव्यक्त से अति परे दूसरा सनातन अव्यक्त भाव है। अर्थात् पूर्वकथित भी भाव है तथा उससे भिन्न एक दूसरा भाव है। अर्थात् पूर्व कथित भाव से

पृथक् दूसरा भाव है। इस प्रकार श्लोक में दो भावों की सत्ता स्वीकार की गयी है। उन दोनों भावों में भेद का भी निरूपण हुआ है। पूर्व कथित भाव अव्यक्त से व्यक्त और व्यक्त से अव्यक्त होने के स्वभाव वाला है यह भाव प्रकृति है दूसरा भाव सदा अव्यक्त रहने वाला है यह सर्वकालिक अव्यक्त भाव ईश्वर है श्लोक में दोनों को सनातन कहा है भेद उनके अव्यक्त और व्यक्त होने में है। एक भाव सदा अव्यक्त रहता है दूसरा भाव सदा अव्यक्त नहीं रहता यह भेद है। एक भाव सनातन अव्यक्त है दूसरा भाव सनातन अव्यक्त नहीं है, यही भेद है। सनातन अव्यक्त भाव ईश्वर है दूसरा भाव जो कभी व्यक्त कभी अव्यक्त होने के स्वभाव वाला है वह प्रकृति है। अव्यक्त शब्द का प्रयोग प्रकृति के लिये होता है।

उपनिषद् में कहा गया है– इन्द्रियों से परे अर्थ है अर्थ से परे मन है मन से परे बुद्धि है बुद्धि से परे आत्मा है जीवात्मा से परे अव्यक्त प्रकृति है उस अव्यक्त प्रकृति से श्रेष्ठ सर्वव्यापी ईश्वर है वही सीमा है उससे परे कुछ नहीं है। इस प्रकार अव्यक्त शब्द प्रकृति का वाचक है।*

ऋग्वेद में तो सृष्टि-प्रलय को दो सनातन बहनों के रूपक से अनादि अनन्त काल चक्र में अवस्थित हुआ कहा गया है। सृष्टि प्रकृति का व्यक्त रूप है प्रलय में प्रकृति अपने अव्यक्त रूप में रहती है। अनादि-अनन्त काल चक्र में भ्रमण करने वाली प्रकृति के नष्ट होने का कोई क्षण नहीं देखा जा सकता। भविष्य में भी यही अनन्त चक्र चलता रहेगा तब प्रकृति अनादि सान्त भी नहीं है प्रकृति के सान्त हो जाने पर सृष्टि चक्र समाप्त हो जावेगा। जो अनादि परम्परा से आज तक चला आ रहा है वह किस हेतु से सान्त (स–अन्त) हो जावेगा अर्थात् यह सृष्टि प्रलय के चक्र का किस हेतु से अवसान होगा, अन्त होगा। यह चक्र क्यों रुक जावेगा सनातन ईश्वर के रहते हुए यह कल्पनातीत है। अतः आधुनिक अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त कि प्रकृति अनादि-सान्त है रेत का महल है। यह न युक्ति, न विज्ञान, न ही शास्त्र सम्मत है।

ऋग्वेद ने तो सृष्टि-प्रलय के चक्र को अनादि-अनन्त घोषित किया है। प्रलय रूपी रात्रि एवं सृष्टिकाल रूपी उषा को दो बहनों के रूपक से कहा गया है।

* इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा स परा गतिः॥ कठ १।३।१०,११

दो बहनों का मार्ग असीम अनन्त काल चक्र में बराबर-बराबर अवधि का है उस मार्ग पर ईश्वर की आज्ञानुसार पृथक्-पृथक् क्रम से एक के पीछे एक आती हैं वे विरुद्ध स्वभाव वाली न मार्ग पर डगमगाती हैं, न रुकती हैं।[1]

ईश्वरीय कृति सृष्टिकाल रूपी उषा अतीत से ही सनातन चक्र में अद्भुत रूप से प्रकाशित हो रही है अतः वर्तमान में ऐश्वर्यशालिनी यहां सृष्टिकाल में श्रेष्ठ प्रकार से रक्षा कर रही है। अनन्तर (अजरा) जरा से रहित, नित्य (अमृता) अक्षय, अविनाशिनी, अनन्त (स्वधाभिः) स्वधारणा शक्ति से युक्त, स्वयंभू शक्तियों से (उत्तरान् द्यून्) आने वाले अर्थात् भविष्य में आने वाले सृष्टिकाल के लिये श्रेष्ठ ढंग से प्रकाशित होती हुई अपना कार्यकाल पूरा कर रही है।[2]

ऋचा में सृष्टिकाल रूपी प्रभात वेला को शाश्वत्, अजर, अमृत और स्वधा-वान् इतने विशेषणों से अलकृत किया गया है। अनादि अनन्त ईश्वर पर आश्रित सृष्टि उत्पत्ति-प्रलय का चक्र अनादि-अनन्त ही होगा। इस कारण बार-बार सत्ता में आने से सृष्टि-काल रूपी उषा को अनादि-अनन्त, स्वयंभू आदि ईश्वरीय गुणों से विभूषित हुआ माना गया है।

अनादि अनन्त ईश्वर का कार्य भी अनादि अनन्त है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी शुभ घड़ी में (*one fine time*) उसने इच्छा की कि मैं अनेक हो जाऊँ, बस हो गया अनेक तथा एक अन्य घड़ी में इच्छा की कि बस अब सृष्टि को समाप्त कर दूँगा, बस फिर हो गयी सृष्टि समाप्त सदैव के लिये। ईश्वर न हुआ, कोई अबोध बालक हो गया। फिर प्रश्न यह है कि उस निर्गुण ब्रह्म में अकस्मात् इच्छा की उत्पत्ति का कारण क्या है?

यदि कहो कि इच्छा तो अनादि है तो फिर वह अन्त वाली कैसे होगी। यदि इच्छा अन्त वाली नहीं है तो सृष्टि-प्रलय के चक्र का अन्त न होगा तो प्रकृति अनादि सान्त न होगी।

यदि कहो कि प्रकृति अनादि सान्त (स–अन्त=अन्त वाली) है तो किस हेतु से ईश्वर भविष्य में यह निर्णय लेगा कि अब वह आगे सृष्टि रचना न करेगा? उसकी भविष्य की इच्छा क्या होगी इसका ज्ञान मानव को कैसे हुआ, इस ज्ञान का

---

१. समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषसा समनसा विरूपे॥

२. शश्वत् पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
अथो व्युच्छादुत्तरां अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥ ऋ. १।११३।३,१३

स्रोत क्या है ? क्या किसी शास्त्र में ईश्वरीय प्रतिज्ञा का उल्लेख है कि अमुक काल के अनन्तर ईश्वर सृष्टि रचना कार्य स्थगित कर देगा। अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी सृष्टि उत्पत्ति-प्रलय का क्रम चल रहा है। यह गनीमत है कि अनादि-सान्त कही जाने वाली प्रकृति अभी तक तो सान्त नहीं हुई है। आगे सान्त हो जावेगी और ईश्वर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जावेगा और कहेगा बहुत हो गया अब आगे सृष्टि नहीं रचूँगा इस युक्तिहीन, बुद्धिहीन बात को कौन मानेगा।

शास्त्र सम्मत मत तो उक्त मत के सर्वथा विपरीत है। शास्त्र कहता है–

स्वभावकी ज्ञान बल क्रिया च। श्वे. उ. ६।८

ईश्वर में ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। सृष्टि उत्पत्ति स्थिति प्रलय अनादि-अनन्त ईश्वर का स्वाभाविक गुण है, स्वभाव है। जबसे ईश्वर है अर्थात् अनादि-काल से सृष्टि रचना लय ईश्वर का स्वाभाविक धर्म है जब तक ईश्वर रहेगा अर्थात् अनन्त काल तक यह धर्म वर्तमान रहेगा।

ईश्वर के बल एवं क्रिया का प्रवाह कभी नही रुक सकता। ईश्वर का बल उसकी अनादि शक्ति प्रकृति है। उस प्रकृति का ज्ञान ईश्वर की शाश्वत् निधि है उस ज्ञान के अनुरूप सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति-लय व जीवों के कर्म का नियमन ईश्वर की अनन्त क्रिया है। ईश्वर अनन्त, उसका स्वभाव अनन्त, उसकी क्रिया अनन्त है। यही बात गीता ने कही है–

स्वभावस्तु प्रवर्तते।

समस्त सृष्टि कर्म ईश्वर की सत्ता से वर्तमान है मायावाद का सिद्धान्त समीचीन नहीं है। तर्क, युक्ति एवं शास्त्र के विपरीत है। नित्य प्रकृति भौतिक जगत का उपादान कारण है। सृष्टि उत्पत्ति-लय प्रवाह से सनातन है।



अध्याय ७

प्रकृति के स्वरूप की मीमांसा

इस अध्याय में भारतीय दर्शन के अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय कि क्या सत्त्व, रज, तम प्रकृति के तीन गुण हैं जैसी कि आम धारणा है, इस पर प्रकाश डाला गया है।

१. वेद व विज्ञान में प्रकृति का स्वरूप— प्रकृति अपने मूल स्वरूप में त्रिवर्गी है ये तीन वर्ग तीन प्रकार के सत्तात्मक तत्व हैं ऐसा वेद का निश्चित मत है। ऋग्वेद में कहा गया है—

त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेत:। ऋ. ७।३३।७

ब्रह्माण्ड के तीन बीज रूप हैं। ये तीन बीज तीन गुण नहीं हैं तीन प्रकार के तत्व हैं यह बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कही गयी है यथा—

यस्य त्रि पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
या उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥ १।१५४।४

(यस्य) जिसके (मधुना) मधुरता, अमृत से (पूर्णा) पूर्ण हुए (त्री पदानि) तीन तत्व (अक्षीयमाणा) अक्षय हुए, सनातन काल से (स्वधया) स्वधारणा शक्ति के द्वारा (मदन्ति) आनन्दित रहते हैं, (य:) जो (उ) केवल (एक:) अकेला ही (त्रिधातु:) तीन मौलिक तत्वों से (पृथिवीम् द्याम् उत विश्वा भुवनानि दाधार) पृथ्वी, द्युलोक तथा समस्त लोकों को धारण करता है (पूर्व मन्त्र की अनुवृत्ति से) उस विष्णु के प्रेरक शक्ति के लिये विचार प्रवृत्त हो।

ऋचा में तीन पद स्वयं में पूर्ण, स्वधारण शक्ति से युक्त एवं शाश्वत् कहे गये हैं। धातु शब्द का अर्थ मूल तत्व, मूलाधार अवयव, मूल संघटक है (कोश)। वेद में इन तीन शक्तियों के नाम वरुण, मित्र, अर्यमा हैं ये तीन आदित्य हैं अर्थात् मूल सत्ता अदिति के अभिन्न अङ्ग कहे गये हैं। ऋचा में (७।८२।२) इन्हें महावसु कहा गया है इस प्रकार ये तीन सत्तात्मक तत्व हैं गुण नहीं हैं।[1]

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी प्रकृति अपने आप को तीन रूपों में अभिव्यक्त करती है ये तीन रूप हैं विकिरण, कण (*particles*) तथा प्रतिकण

१. इस विषय पर विशेष जानकारी के लिये लेखक की कृति ऋग्वैदिक सृष्टि विज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान देखें।

(*anti particles*)। यह वर्गीकरण सर्वकालिक है अर्थात् ये तीनों वर्ग हर समय विद्यमान रहते हैं यद्यपि कभी किसी का वर्चस्व हो जाता है तो कभी अन्य का। अतः ऋग्वैदिक वर्गीकरण आधुनिक विज्ञान सम्मत है।

२. क्या प्रकृति त्रिगुणात्मिका है — इस अनुच्छेद में इस तथ्य की जांच की जावेगी कि क्या प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। क्या सत्त्व रज तम प्रकृति के संघटक हैं।

प्रश्न– प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहा गया है अर्थात् प्रकृति अपने मूल स्वरूप में तीन गुण सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था है।

समीक्षा– यदि प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था है तो प्रकृति के विकारों में गुणों की साम्यावस्था न होगी वरन् गुणों की विषमावस्था होगी, अतः जगत के द्रव्यों में, जो प्रकृति के विकार हैं, गुणों की विषमावस्था होगी अर्थात् गुणों की विद्यमानता पाई जाना चाहिये। तदनुसार जगत के द्रव्यों का वर्गीकरण सत्त्वादि गुणों के आधार पर किया जाना चाहिये। क्या हम यह बता सकते हैं कि कलम में कौन-सा गुण है, दीवाल में कौन-सा गुण है, वृक्ष में कौन-सा गुण है ? यदि नहीं बता सकते तो इसका तात्पर्य यह है कि ये गुण रहित हैं अथवा इनमें गुणों की साम्यावस्था है। यदि विकार में भी गुणों की साम्यावस्था मानते हो तो मूल प्रकृति व विकारों में भेद न रहा।

चार प्रकार के प्रमाणों में प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। प्रत्यक्ष के आधार पर प्रकृति के विकारों पँच सूक्ष्म भूत शब्द स्पर्श रूपादि व पँच महाभूतों में सत्त्व रजसादि गुणों की सत्ता नहीं है अतः प्रकृति को त्रिगुणात्मक कैसे कह सकते हैं क्योंकि यदि प्रकृति के मूल स्वरूप में तीन गुण होते तो विकारों में गुणों का पाया जाना अवश्यमभावी परिणाम होता।

३. गुणों की साम्यावस्था संबंधी विवेचन— इस पैरा में गुणों की साम्यावस्था क्या है इस पर विचार किया गया है।

प्रश्न– प्रकृति तीन गुणों की साम्यावस्था है ऐसा सांख्य दर्शन का मत है –

सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

समीक्षा– गुणों की साम्यावस्था से क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट किया जाना अपेक्षित है। या तो यह माना जाय कि प्रकृति की अवस्था अनिर्वचनीय है यदि ऐसा है तो तीन गुणों की साम्यावस्था वाला स्वरूप कथनीय होने से अमान्य हुआ अन्यथा गुणों का स्वरूप तथा उनकी साम्यावस्था का स्वरूप स्पष्ट किया जाना चाहिये।

यदि कहो कि गुणों की साम्यावस्था से यह तात्पर्य है कि तीनों गुण बराबर-बराबर मात्रा में रहते हैं तो यह उचित नहीं है। परस्पर भिन्न गुणों में तुलना नहीं की जा सकती पुनः समतुल्यता कैसे प्रस्थापित होगी। उदाहरण के लिये यदि कोई कहे कि उसका भार उसकी ऊँचाई के बराबर है अथवा राम का भार मोहन की ऊँचाई के बराबर है तो यह अबोध जैसी बात होगी क्योंकि भार किलोग्राम में तथा ऊँचाई मीटर में नापी जाती है तो फिर १६० किलोग्राम भार १६० सेन्टीमीटर ऊँचाई में तुल्यता कैसे प्रस्थापित होगी। क्या इस प्रतिज्ञा में कोई तथ्य है कि राम का भार मोहन की ऊँचाई के बराबर है? अतः तीन विभिन्न गुणों की बराबर-बराबर मात्रा वाली साम्यावस्था माननीय नहीं है। लम्बाई से लम्बाई, भार से भार, वेग से वेग की तुलना हो सकती है किन्तु एक गुण की दूसरे भिन्न गुण से तुलना नहीं हो सकती।

अतः यदि तीन गुण सत्त्व, रजस, तमस् की साम्यावस्था मात्रा की तुल्यता की बोधक है तो तीन गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं वरन् एक ही गुण के तीन पहलू हो सकते हैं (जैसे लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई) जिनमें समानता हो सकती है।

प्रश्न— साम्यावस्था से तात्पर्य यह है कि तीन गुण परस्पर मिलकर उदासीन हो जाते हैं इसका अर्थ यह है कि साम्यावस्था में कोई गुण परिलक्षित नहीं होता अर्थात् यह गुण—शून्य अवस्था है।

समीक्षा— गुण—शून्य द्रव्य सत्ता अकल्पनीय है इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव है। वस्तु का अथवा सत्ता का उसके गुणों के साथ समवाय अर्थात् अविच्छिन्न संबंध होता है। जब तक वस्तु सत्ता है तब तक गुणों की सत्ता का रहना अनिवार्य है तथा इसका विलोम भी सत्य है कि जब तक गुणों की सत्ता है तब तक ही वस्तु की सत्ता है। अग्नि से ताप पृथक् नहीं किया जा सकता। जब तक अग्नि है ताप रहेगा, जब तक ताप है तब तक ही अग्नि की सत्ता है। स्वर्ण से पीलापन व चमक पृथक् नहीं किये जा सकते। जब तक पीलापन और चमक मौजूद है तब तक ही सोने की सत्ता माननीय है। गुण—शून्य द्रव्य की सत्ता माननीय नहीं है।

पुनः न तो गुणों के स्वरूप का विवेचन किया गया है न ही साम्यावस्था के स्वरूप का विवेचन हुआ है। इस विषय में एक तर्क यह विचारणीय है कि परस्पर असंबंधित गुणों की साम्यावस्था नहीं हो सकती।

प्रश्न— गुणों की साम्यावस्था नहीं हो सकतो इस प्रतिज्ञा को हेतु व प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर प्रस्थापित किया जाना चाहिये।

समीक्षा– दो गुण परस्पर तब उदासीन होते हैं अर्थात् साम्यावस्था उत्पन्न करते हैं जब वे एक ही गुण के दो विपरीत भावों (आयाम) का प्रतिनिधित्व करते हों। यह इस प्रतिज्ञा में हेतु है कि गुणों की साम्यावस्था नहीं हो सकती।

इस हेतु के अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण हैं जिनका विवरण वर्तमान अनुच्छेद के अन्तर्गत दिया जा रहा है।

बराबर मात्रा में दो विरुद्ध भाव वाले विद्युत चार्ज एक धनात्मक, दूसरा ऋणात्मक संयोग करके उदासीन स्थिति उत्पन्न करते हैं। यहां विद्युत गुण धर्म एक ही है केवल स्वभाव विपरीत है।

पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है जो वस्तु को अपनी ओर खींचती है। इस गुण को यदि उदासीन (*neutralise*) करना है तो विरुद्ध दिशा में उतनी ही मात्रा में आकर्षण शक्ति का प्रयोग करना होगा।

यह एक परीक्षित वास्तविक सत्य है कि पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच की दूरी को यदि ९ : १ के अनुपात में विभाजित करें तो एक धरातल (*plane*) ऐसा आता है कि जिस पर पृथ्वी का आकर्षण चन्द्रमा के आकर्षण के बराबर किन्तु विपरीत दिशा में कार्यरत होता है परिणाम स्वरूप उस स्थल पर गुरुत्वाकर्षण शून्य हो जाता है। ऐसी वैज्ञानिक कल्पना है कि इस धरातल पर यदि राकेट रोका जावे और राकेट का यात्री राकेट से कुछ दूर आकाश में चल दे तो वहां कुछ १५-२० फुट के आगे निकल जाने पर गुरुत्वाकर्षण के शून्य हो जाने के कारण वह अधर में त्रिशंकु की तरह लटक जाता है। कुछ फुट इसलिये चल सकता है क्योंकि राकेट का गुरुत्वाकर्षण प्रभावशाली रहता है। वह व्यक्ति वहीं-वहीं हाथ पैर मारता हुआ फिरकनी की तरह चक्कर काटता है पर चल नहीं पाता। उसको राकेट पर आने के लिये रस्सा फेंकते हैं पर रस्सा गुरुत्वाकर्षण के न होने से नहीं जाता। तब उसे लाने के लिये एक दूसरे व्यक्ति की पीठ पर भारी चुम्बक बांधकर उसकी ओर ५-७ फीट रस्से से बांधकर लटकाया जाता है इससे फंसे हुए व्यक्ति में हरकत आती है और वह कुछ-कुछ चलता है राकेट की ओर जहां उसे राकेट के आकर्षण से चलने की शक्ति आ जाती है।

इसी प्रकार एक वेग से चलती हुई गेंद से दूसरी विरुद्ध दिशा में उसी वेग से चलने वाली गेंद यदि टकरा जाय तो दोनों गेंदें सिद्धान्तः स्थिर हो जावेंगी। अमेरिका में एक बार ऐसा हुआ कि एक इलेक्ट्रिक ट्रेन बिना ड्राईवर के चल पड़ी। इस ट्रेन को रोकने के लिये बड़े उपाय सोचे गये। अन्ततः एक ट्रेन को चलाते हुए

एक ड्राईवर ने उस ट्रेन का पीछा किया। जब दोनों ट्रेन पास आयीं तो ड्राईवर ने अपनी ट्रेन की गति कुछ बढ़ाकर आगामी ट्रेन से मिलाकर बराबर गति कर दी। अब दो ट्रेन साथ-साथ चल रही थीं तुरन्त इलेक्ट्रिक बटन से दोनों की सांकलें जोड़ दी गयीं। फिर ड्राईवर ने अपनी गाड़ी की गति विपरीत दिशा में बढ़ाई जिससे फरार ट्रेन की गति कम होने लगी। जैसे ही दोनों की गति बराबर हुई दोनों गाड़ियां रुक गईं। वह ड्राईवर पुरस्कृत हुआ क्योंकि यह बड़ी ही सावधानी का काम था।

इन उदाहरणों का मन्तव्य यह है कि तटस्थता की स्थिति एक ही गुण के दो परस्पर विरोधी भावों, पहलुओं के बीच संभव है दो भिन्न गुण मध्यस्थता उत्पन्न नहीं कर सकते। वेग को उदासीन करने के लिये बराबर मात्रा का विपरीत वेग आवश्यक होता है, आकर्षण को उदासीन करने विपरीत आकर्षण तथा विद्युत को तटस्थ करने विपरीत चार्ज वाली विद्युत आवश्यक होती है।

यह हमारा प्रतिदिन का अवलोकन है कि तराजू के एक पलवे पर भार रखा जाता है तो डंडी तब तक बराबर नहीं होती जब तक दूसरे पलवे पर उतने ही भार की वस्तु न रख दी जाय। दो दलों में रस्सा खिंचाई होती है तो सन्तुलन की स्थिति तब आ जाती है जब दोनों ओर से बराबर-बराबर बल का प्रयोग होता है। अतः परस्पर असंबंधित गुणों के बीच उदासीनता, तटस्थता की स्थिति नहीं हो सकती। गति को भार, भार को विद्युत उदासीन (*neutralise*) नहीं कर सकते। भार को रंग या चमक नहीं काट (*annul*) सकते। सीमेन्ट का रंग काला होता है जब इसके रंग को भूरा करना होता है तो उसका भार (मात्रा) बढ़ाया नहीं जाता वरन् उसमें सफेद रंग की सीमेन्ट मिलाई जाती है। अतः एक ही गुण के दो विरोधी भाव परस्पर सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न करते हैं यह प्रत्यक्ष दृष्टान्तों पर आधारित निगमन है, निष्कर्ष है।

अस्तु प्रकृति के तीन गुण परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध प्रभाव उत्पन्न करके सन्तुलन की स्थिति जिसमें गुणशून्यता हो उत्पन्न नहीं कर सकते। दो गुण यदि एक ही (*dimension*) आयाम वाले हों तो परस्पर विरोधी क्रिया वाले हो सकते हैं किन्तु तीन गुण परस्पर विरोधी हो ही नहीं सकते। दूसरी बात यह है कि जो दो गुण परस्पर विरोधी क्रिया वाले होंगे वे एक ही गुण के दो विरोधी (पहलुओं) भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं अतः दो की संख्या न रही, पुनः शेष रहा तीसरा गुण विरोधी सत्ता के अभाव में प्रतिद्वन्द्वी रहित (*unchallanged*) रह गया। अतः तीसरे गुण का (*predomination*) प्राबल्य कायम होगा। अतः अनुमान

प्रमाण से भी यह मत खंडित हुआ कि सत्व, रज, तम प्रकृति के तीन गुण हैं जो साम्यावस्था में रहते हैं।

४. **सांख्य दर्शन प्रोक्त प्रकृति व विकारों का स्वरूप** — सांख्य दर्शन के आचार्य का मत कि प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था है अयुक्त नहीं है किन्तु आचार्य के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। ध्यान रहे सांख्य के आचार्य ने जो प्रकृति की परिभाषा दी है तथा उसके विकारों की उत्पत्ति का जो क्रम दिया है वह क्रम वास्तविक रासायनिक क्रम नहीं है। इस क्रम में अहंकार की उत्पत्ति कही गई है अहंकार जीव के अहं भाव का बोधक है, यह द्रव्य की रासायनिक अवस्था नहीं है जैसे न्यूक्लेर अवस्था, परमाणु अवस्था आदि होती हैं। इसी प्रकार इस क्रम में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध जो सूक्ष्म भूत कहे गये हैं उनकी सत्ता चेतन की सापेक्षता से है। चेतन की सवेदनाओं से ही ये विषय अनुभूत होते हैं।

अत: सांख्य प्रोक्त क्रम रासायनिक क्रम नहीं है वरन् वह द्रष्टा चेतन के प्रकृति तथा देह स्थित प्रकृति के विकारों से संसर्ग के परिणामस्वरूप उद्भूत हुआ चेतन की प्रत्यक्ष अनुभूति का क्रम है जिसे दार्शनिक क्रम कह सकते हैं। जगत की सत्ता का साक्षी द्रष्टा है। द्रष्टा की स्वाभाविक स्थिति वह है जो उसे सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त होती है। द्रष्टा अपने आसन से उठकर प्रकृति व देहगत शक्तियों से मिलने चलता है। सर्वप्रथम उसका संसर्ग प्रकृति से होता है वह प्रकृति को तीन गुणों की साम्यावस्था में अर्थात् गुण-शून्य स्थिति में पाता है जिसका तात्पर्य यह है कि अपने मूल ब्राह्मी स्वरूप में प्रकृति, जीव में कोई विकार उत्पन्न नहीं करती, न ही प्रकृति उस रूप में बंधनकारी है। इस विषय में सांख्याचार्य ने जीव के बन्धन के प्रकरण में कारणों पर विचार करते हुए प्रकारान्त से यह तथ्य कहा है कि प्रकृति बन्धनकारी नहीं है यथा—

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्।

जीवात्मा काल के योग से बंधन में नहीं है क्योंकि नित्य एवं सर्वव्यापी होने से काल का संसर्ग नित्य संबंध वाला है अत: यदि काल बंधन का हेतु हो तो मुक्ति असम्भव है। इसी प्रकार आगे देश (दिक्=*space*) योग की तथा प्रकृति योग की परीक्षा करते हैं प्रकृति भी सर्वव्यापी एवं नित्य है अत: प्रकृति मूल रूप में बंधनकारी नहीं है इसमें एक हेतु और दर्शाते हैं—

च तस्या अपि पारतन्त्र्यम्।

तथा प्रकृति के परतन्त्र होने से भी (बंधन का कारण नहीं है) अर्थात् जड़ होने से बंधन का कारण नहीं हो सकती तो फिर बंधन का कारण क्या है? इसका उत्तर देते हैं—

तद्योगोऽप्यविवेकात् ।

बन्धन का योग अविवेक से होता है ।

यदि प्रकृति बन्धनकारी हो तो मुक्ति असंभव है क्योंकि प्रकृति सर्वव्यापी व नित्य है बन्धन का कारण अविवेक है यह अविवेक कैसे उत्पन्न होता है ?

जैसा कि कहा जा चुका है द्रष्टा जब अपने आसन से उठकर देहगत प्रकृति व उसके विकारों से संसर्ग करने प्रस्तुत होता है तो सर्वप्रथम उसका संसर्ग मूल प्रकृति से होता है । प्रकृति अपने उस मूल रूप में चेतन में कोई विकार उत्पन्न नहीं करती अत: प्रकृति की इस स्थिति को तीन गुणों की साम्यावस्था कहा गया है क्योंकि यह जीव में किसी गुण को उत्पन्न नहीं करती । जब जीव प्रकृति के विकारों से संसर्ग करता है तो उसमें त्रिगुण की उत्पत्ति होती हैं । अत: ये गुण न तो मूल प्रकृति में हैं न ही स्वतंत्र जीवात्मा में हैं वरन् ये गुण मानव देहधारी जीवात्मा के हैं । अपने मूल स्वरूप में चेतन द्रष्टा में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करती अत: चेतन में त्रिगुण की साम्यावस्था अर्थात् शून्यावस्था रहती है यही दर्शनकार का आशय है ।

द्रष्टा आगे चलता है तो उसे प्रकृति का विकार महत्तत्त्व मिलता है यह द्रष्टा की देह संघात में बुद्धि रूप से अवस्थित है । यहां द्रष्टा में विकार उत्पन्न होता है । बुद्धि तत्त्व प्राप्त होते ही उसे अपने अस्तित्व का भान होता है इसे अहंकार कहते हैं। इस अहंकार वृत्ति से पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा पंच विषय रूप सूक्ष्म भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि की उत्पत्ति कही गयी है जो अहं भाव के परिणामस्वरूप प्रादुर्भूत होते हैं तथा सूक्ष्म भूतों से पंच महाभूत रूप दृश्य-जगत की अनुभूति होती है । इस प्रकार यह समस्त क्रम द्रष्टा की अनुभूति के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है यह वास्तविक रासायनिक क्रम नहीं है । यह वह दार्शनिक क्रम है जिस क्रम से द्रष्टा जगत की ओर उन्मुख होता है ।

अत: त्रिगुण प्रकृति में नहीं है न ही प्रकृति के विकारों में है । जीवात्मा और प्रकृति के विकार मन इन्द्रियादिक इन दोनों की संयुक्त सत्ता से त्रिगुण की उत्पत्ति होती है ।

पुरुष जब देहादिक संघात का स्वामी हो जाता है तो उसकी स्थिति स्वतंत्र चेतन से भिन्न हो जाती है वह देह, मन, इन्द्रियादिक को अपना स्वरूप समझता हुआ इन्द्रिय सुखभोग की लालसा से प्रवृत्त होता है । वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं रह पाता वरन् मन बुद्धि इन्द्रियादिक का अधिष्ठाता रूप व्यक्तित्व वाला होकर तदनुसार बनता है इसे ही देहाभिमान कहते हैं । जीव मन बुद्धि इन्द्रियादिक

में 'अहम् भाव' (मैं भाव) प्रतिरोपित कर लेता है, इसी अध्यारोपित सत्ता में जीता है। इसे शास्त्र में अहंकार कहा गया है यही बंधन का हेतु है—

अहंकारः कर्ता न पुरुषः । सांख्य

देहाभिमान के वशीभूत हो विभिन्न प्रकार की प्रवृत्ति से बंध जाता है। यही बात गीता में कही गयी है—

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।

यही देहाभिमान उसमें त्रिगुण की उत्पत्ति में हेतुभूत है तथा बन्धनकारी है।

यहां एक और तर्क विचारणीय है। सत्त्व, रज, तम प्रकृति के गुण हैं ऐसा सांख्य दर्शन ने कहीं नहीं कहा। द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त सांख्य दर्शन को स्वयं मान्य है, विज्ञान को मान्य हैं, वेद सम्मत है। गुणों से द्रव्य की उत्पत्ति अकल्पनीय है, प्रत्यक्ष का विरोधी है। सोने में तीन गुण हैं चमक, पीलापन, भार। क्या ये तीन गुण परस्पर मिलकर कोई द्रव्य उत्पन्न कर सकते हैं ? गुणों से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती इस सिद्धान्त के आधार पर ही सांख्य के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु ने सत्त्व, रजस्, तमस् को प्रकृति के तीन वर्ग माना है। यहां विज्ञान-भिक्षु के मत के उल्लेख करने का उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि भाष्यकार ने सत्त्व, रज, तम को प्रकृति के तीन गुण मानने से इन्कार किया है इस तर्क के आधार पर कि गुण, द्रव्य की उत्पत्ति में हेतु नहीं हो सकते, गुण उपादान कारण नहीं हो सकते। जैसा कि पूर्व अध्यायों में दर्शाया जा चुका है सांख्य दर्शन कारण-कार्य सिद्धान्त का प्रमुख प्रवक्ता है जिसका तात्पर्य यह है कि सांख्य द्रव्य से द्रव्य की उत्पत्ति मानता है गुण से द्रव्य की उत्पत्ति सांख्य सिद्धान्त के विपरीत है।



अध्याय ८

द्रष्टा साक्षी का अस्तित्व एवं स्वरूप मीमांसा

गत अध्यायों में हम दृश्य की मीमांसा करते रहे हैं। अध्याय २ में हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि द्रष्टा एवं दृश्य दो स्वतंत्र सत्ताएँ हैं। अध्याय ३ में ऐसा निश्चय हो चुका है कि दृश्य जगत का अस्तित्व वर्तमान में सिद्ध है। इस अध्याय में द्रष्टा के स्वरूप का विवेचन उपनिषद् के इस सूत्र—

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च

के आधार पर किया जावेगा। सर्वप्रथम द्रष्टा के साक्षित्व का विवेचन किया जावेगा।

१. द्रष्टा साक्षी है— 'मैं हूँ' यह द्रष्टा की प्रथम अनुभूति है। अतः द्रष्टा के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। मैं कौन हूँ इस पर मतभेद हो सकता है किन्तु "मैं हूँ" अर्थात् द्रष्टा का अस्तित्व है यह असंदिग्ध रूप से प्रस्थापित है, स्वयं सिद्ध है। अतः 'मैं हूँ' यह प्रथम अनुभूति है जिसको अनुभूति है उसका अस्तित्व सिद्ध है अर्थात् द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध है। यह भी सिद्ध है कि द्रष्टा चेतन शक्ति है, विचारवान् है, उसमें ज्ञान करने की शक्ति है। अनुभूति करना ही द्रष्टा का लक्षण है। द्रष्टा साक्षी है उसकी प्रथम साक्षी उसके स्वयं के विषय में है कि 'वह है' यद्यपि द्रष्टा अपने विषय में यह नहीं बता सकता है कि वह कौन है उसका स्वरूप कैसा है। फ्रेन्च दार्शनिक एवं गणितज्ञ श्रीमान् डेकार्टे महोदय ने भी ऐसी ही युक्ति प्रस्तुत की है। वे कहते हैं (*cognito ergo sum*) 'मैं हूँ' यह मेरी प्रथम अनुभूति है अतः मेरा अस्तित्व सिद्ध है।

२. अहंकार वृत्ति का स्वरूप — हिन्दू दार्शनिकों ने चेतन की प्रथम वृत्ति 'अहंकार' प्रतिपादित की है। इसका कार्य केवल 'मैं' की अनुभूति करना (*pure ego*) है। यह अहंकार अहं की प्रतीति की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति है जो श्रीमान् डेकार्टे की युक्ति के अनुरूप है।

द्रष्टा की 'अहम्' की अनुभूति किसी इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित नहीं है। उसकी अन्य अनुभूतियां इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आधारित हैं। इन्द्रियों का साधन द्रष्टा को तब उपयोग में लाना पड़ता है जब वह अपने से बाह्य द्रव्य के विषय में अपना मत निर्धारित करता है। अतः द्रष्टा जिस विषय में इन्द्रियजन्य ज्ञान पर आश्रित होकर साक्ष्य देता है वह द्रष्टा से पृथक् है वही दृश्य की संज्ञा वाला है।

'अहम्' की अनुभूति के अतिरिक्त द्रष्टा को सभी अनुभूतियां इन्द्रियजन्य हैं। एतदर्थ द्रष्टा इन्द्रियों का विषय नहीं हैं अर्थात् द्रष्टा दृश्य की सीमा में नहीं आता इसी कारण द्रष्टा की परीक्षा वैसे नहीं की जा सकती जैसे जगत के द्रव्यों की, की जा सकती है।

हिन्दू दार्शनिकों ने इस सत्य को दर्शन के सिद्धान्त में निहित कर दिया है। वे कहते हैं कि इन्द्रियजन्य अनुभूतियों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) की उत्पत्ति अहंकार से होती है अर्थात् 'अहम्' की प्रथम अनुभूति ही अन्य अनुभूतियों की जन्म-दात्री है। प्रथम अनुभूति पर इन्द्रियजन्य अनुभूतियां आश्रित हैं। द्रष्टा इन्द्रियों की परिधि के बाहर है, इन्द्रियों का अविषय है। अतः द्रष्टा के विषय में वे विधियां प्रयुक्त नहीं हो सकती जो दृश्य के विषय में होती हैं। दृश्य जगत, द्रष्टा की इन्द्रिय-जन्य अनुभूति का विषय है।

द्रष्टा का इन्द्रियजन्य ज्ञान की परिधि में न आना यह सिद्ध करता है कि द्रष्टा दृश्य जगत का अंश नहीं है अन्यथा वह जगत के सभी द्रव्यों के अनुरूप क्यों नहीं वर्तता, अपवाद क्यों है। यह हेतु द्रष्टा को भौतिक जगत से विलक्षण अभौतिक चित् स्वरूप प्रस्तुत करता है।

३. साक्षी के अभाव में जगत की स्थिति — भौतिकवादी कहते हैं कि चेतन या चित्त शक्ति भौतिक पदार्थ का ही विकास है, इसी का विकसित रूप है। भौतिक पदार्थ (*matter*) से पृथक् कोई चेतन सत्ता नहीं है।

हम विचार कर चुके हैं कि द्रष्टा जगत के विषय में साक्ष्य देने में सक्षम एवं समर्थ है। भौतिक पदार्थ से उत्पत्तिवान् द्रव्य द्रष्टा के ज्ञान की परिधि के अन्तर्गत है। यदि चेतन भौतिक पदार्थ का रूपान्तर होता तो भौतिक पदार्थ की तरह अपनी इन्द्रियों द्वारा अपना स्वयं का परीक्षण कर सकता किन्तु वास्तविकता यह है कि वह अपने स्वयं के स्वरूप की व्याख्या करने में इन्द्रियों का प्रयोग करने में सक्षम नहीं है, समर्थ नहीं है। यह स्थिति अकारण नहीं है। इसका तात्पर्य यही है कि द्रष्टा (जगत) भौतिक पदार्थ से विलक्षण है, अभौतिक है, इन्द्रियजन्य ज्ञान की सीमा के बाहर का विषय है, भौतिक सीमा के परे है।

भौतिकवादियों का यह कहना कि केवल एक भौतिक पदार्थ से जगत की उत्पत्ति हुई सर्वथा अमान्य है। भौतिक जगत का अस्तित्व है, पदार्थ का अस्तित्व है अन्य किसी का नहीं है इसका साक्षी स्वयं पदार्थ नहीं हो सकता, तो फिर इसका साक्षी कौन है कि पदार्थ का अस्तित्व है? क्या पदार्थ अपने अस्तित्व का साक्षी हो सकता है?

साक्ष्य के अभाव में भौतिक जगत का अस्तित्व है यह सिद्ध नहीं हो सकता। भौतिक जगत है इसका साक्षी भौतिक पदार्थ नहीं हो सकता। द्रष्टा साक्षी भौतिक पदार्थ से पृथक् होना चाहिये। जब भौतिकवादी कहता है कि "मैं कहता हूँ कि केवल पदार्थ की सत्ता है", तो प्रश्न उठता है यह मैं कौन है? मैं का परिचय क्या है? द्रष्टा की प्रथम अनुभूति (कि मैं हूँ) में पदार्थ सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं है वह अनुभूति विशेषण रहित (*unqualified*) स्वतंत्र निरपेक्ष रूप से द्रष्टा की सत्ता को सिद्ध करती है। भौतिकवादी ने अपने इस कथन में कि मैं कहता हूँ कि केवल पदार्थ सत्ता है दो अनुभूतियों को मिला दिया है। प्रथम यह कि 'मैं हूं', द्वितीय यह कि 'पदार्थ सत्ता है'। जैसा कि कहा जा चुका है प्रथम अनुभूति (मैं हूं) इन्द्रिय ज्ञान से स्वतंत्र विशुद्ध अनुभूति है तथा दूसरी अनुभूति कि 'पदार्थ है' इन्द्रियजन्य अनुभूति है। इस प्रकार दो अनुभूतियों की मिलावट से उद्भूत ज्ञान अशुद्ध है, माननीय नहीं है।

भौतिक पदार्थ अपने स्वयं के अस्तित्व की साक्षी नहीं दे सकता। यदि कहो कि भौतिक पदार्थ चित् रूप द्रष्टा होकर साक्ष्य देता है तो यह एक विरोधाभास (*paradox*) है क्योंकि मूल रूप में पदार्थ अचेतन है, जड़ है। उसका अपने अस्तित्व की साक्ष्य देना इस प्रकार है जैसे कोई कहे कि उसने अपनी हत्या की साक्ष्य दी। यदि हत्या हो गयी है तो साक्ष्य नहीं दे सकता और यदि साक्ष्य दे रहा है तो हत्या नहीं हुई। यह वैसे ही है जैसे कोई कहे कि वह अपने कन्धे पर चढ़कर यात्रा करने गया था। यह वैसे ही है जैसे कोई कहे कि बन्ध्या (बांझ के पुत्र उत्पन्न हुआ।

अतः भौतिक पदार्थ अपने अस्तित्व को साक्षी स्वयं नहीं दे सकता। उसके अस्तित्व की साक्षी देने वाला उससे पृथक्, सर्वथा स्वतंत्र एवं ज्ञान करने में सक्षम होना चाहिये। जगत की सत्ता के होने की साक्ष्य सापेक्ष (*relative*) है। जो भौतिकवादी कहता है कि केवल पदार्थ है वह स्वयं द्रष्टा के रूप में ही साक्ष्य दे रहा है। इस प्रकार अज्ञात रूप से ही चेतन द्रष्टा की सत्ता को स्वीकारा जाता है। अस्तु भौतिक जगत के अस्तित्व को स्वीकारने के पूर्व साक्षी द्रष्टा के अस्तित्व को स्वीकारना पड़ेगा। जगत की सत्ता के स्वरूप की मीमांसा द्रष्टा की सत्ता के बाद आरम्भ होती है, द्रष्टा के द्वारा होती है। द्रष्टा की स्वयं की अनुभूति बुनियादी (*primary*) है, आधारभूत है, जगत की अनुभूति बाद का विषय है, जगत के अस्तित्व का विचार द्वितीयक (*secondary*) है।

साक्षी का अस्तित्व निरपेक्ष (*absolute*) है, द्रष्टा अपने अस्तित्व के लिये किसी पर निर्भर नहीं है जबकि जगत का अस्तित्व सापेक्ष है, द्रष्टा की साक्ष्य पर

आधारित है, साक्षी द्रष्टा के अभाव में जगत का भाव या अभाव कुछ भी सिद्ध नहीं है।

५. द्रष्टा एवं दृश्य में भेद — द्रष्टा की स्व-अस्तित्व की जो अनुभूति है कि 'मैं हूँ' वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है केवल एक भाव मात्र है जबकि भौतिक पदार्थ के विषय में द्रष्टा का ज्ञान एवं साक्षी का आधार ज्ञानेन्द्रियें हैं। यदि इन्द्रियां न होंती तो मनुष्य जगत के विषय में अनभिज्ञ होता तथा भौतिक जगत के विषय में ज्ञान बढ़ाने में असमर्थ हो जाता किन्तु अपने अस्तित्व के विषय में उसे जो ज्ञान अभी है वह इन्द्रियों के न होने पर भी उतना ही होता।

अत: जगत का ज्ञान करने एवं अपना स्वयं का ज्ञान करने की विधि (*approach*) में भी भेद है तथा यह भेद यह सिद्ध करता है कि भौतिक जगत और द्रष्टा पृथक् स्वरूप एवं स्वभाव वाली सत्ताएँ हैं (*their intrinsic nature is essentially different*). द्रष्टा एवं दृश्य दो विपरीत गुण और स्वभाव वाली दो विलक्षण पृथक् सत्ताएँ हैं। द्रष्टा ज्ञाता है, अपने अस्तित्व के विषय में 'मैं हूँ' मेरा अस्तित्व है, मैं ज्ञाता हूँ, मैं विचारवान् हूँ, इसके अतिरिक्त उसे कुछ ज्ञान नहीं है। इस प्रकार द्रष्टा एवं दृश्य के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्रस्थापित होते हैं–

१, द्रष्टा ज्ञाता है जगत ज्ञेय है।
२. द्रष्टा का अपने स्व-अस्तित्व का ज्ञान अपनी साधनभूत इन्द्रियों पर आधारित नहीं है, दृश्य के विषय में द्रष्टा का ज्ञान इन्द्रियों पर आधारित है।
३. द्रष्टा इन्द्रियातीत है, दृश्य इन्द्रियों का विषय है।
४. साक्षी द्रष्टा का अस्तित्व भौतिक सत्ता से निरपेक्ष, स्वतंत्र है भौतिक जगत का अस्तित्व साक्षी द्रष्टा की अपेक्षा से है सापेक्ष है, द्रष्टा की साक्ष्य पर है।
५. द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता।

प्रश्न– द्रष्टा अपने अस्तित्व के लिये शरीर पर निर्भर है। सशरीर जन्म के उपरांत ही द्रष्टा अपने अस्तित्व के विषय में जानता है कि 'मैं हूँ'। शरीर पाने के पूर्व या शरीर त्यागने के पश्चात् द्रष्टा को अपने अस्तित्व के विषय में स्वतंत्र रूप से कोई ज्ञान नहीं है अत: यह कहना कि द्रष्टा का अस्तित्व भौतिक सत्ता से निरपेक्ष है गलत है।

समीक्षा– द्रष्टा की अनुभूति का समय वर्तमान काल है जब द्रष्टा ऐसा कहता है कि 'मैं हूँ'। जब द्रष्टा नहीं था अर्थात् सशरीर जन्म से पूर्व जब भूतकाल में द्रष्टा नहीं था तब जगत के अस्तित्व का प्रश्न भी नहीं था, तब साक्षी के अभाव में

जगत भी नहीं था। द्रष्टा के अभाव में इसका साक्षी कि 'भौतिक जगत है' क्या है, कौन है ? अतः जगत ओर जगत की मीमांसा साक्षी के अस्तित्व के उपरान्त ही आरंभ होती है। शरीर स्वयं जगत (=दृश्य) का अंश है, शरीर का अस्तित्व भी जगत के अस्तित्व की तरह द्रष्टा की साक्ष्य पर है। शरीर का अस्तित्व पहले और द्रष्टा का अस्तित्व वाद में है ऐसी वात नहीं है। 'मैं हूँ' की अनुभूति प्रथम अनुभूति है। यह शरीर मेरा है यह द्वितीय अनुभूति है। द्रष्टा के अस्तित्व की अनुभूति के बाद ही शरीर के अस्तित्व की अनुभूति का प्रश्न उठता है।

आज के जन्मे शिशु को अपने शरीर का ज्ञान नहीं है किन्तु उसे यह अनुभूति है कि 'मैं हूँ'। जब उसे शक्ति की कमी की प्रतीति होती है तो वह रोकर अपने अस्तित्व का उद्घोष करता है, घोषणा करता है। उसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि भूख क्या है तथा उसे यह भी ज्ञान नहीं है कि उसे भूख लगी है उसे केवल कुछ कष्ट, बेचैनी की अनुभूति है। दूध मिलते ही बेचैनी (दुःख) दूर होती है तब उसे अनुभूति होती है कि 'मैं सुखी हूँ' वह मुस्कराता है। उसकी अनुभूति केवल अपने अस्तित्व की अनुभूति है देह की अनुभूति बहुत समय पश्चात् उद्भूत होती है।

प्रश्न– जब मैं नहीं था तब भी जगत था और जब मैं न रहूँगा तब भी जगत रहेगा, अतः यह निश्चय हुआ कि जगत का अस्तित्व है मेरा अस्तित्व, चेतन का अस्तित्व नहीं है।

समीक्षा– यह भौतिकवादी चारवाकों का परम्परागत तर्क है किन्तु यह अदर्शन पर आधारित है। भला यह तो बताओ कि 'मैं नहीं हूँ और जगत है' यह कहने वाला है या नहीं। यदि कहो नहीं है तो इस प्रतिज्ञा (बयान = *statement*) का कर्त्ता कौन है।

जो नहीं है उसका बयान कैसा, उसकी साक्ष्य कैसी। जब साक्षी का ही अस्तित्व नहीं है तो उसकी साक्ष्य का अस्तित्व कैसे होगा। उदाहरण के लिये न्यायालय में अमुक गवाह की पुकार साक्ष्य देने हेतु हुई, यदि गवाह अनुपस्थित है तो उसकी साक्ष्य (*evidence*) के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जो नहीं है उसकी बात का कोई प्रमाण नहीं हो सकता, जो मौजूद है, विद्यमान है उसकी ही साक्ष्य मानी जा सकती है। निष्कर्ष यह निकला कि साक्षी का अस्तित्व पूर्व अनुबन्ध है, पूर्व शर्त (*precondition*) है साक्ष्य का प्रमाणीकरण उत्तर अनुबन्ध है (बाद की) आगामी शर्त (*post condition*) है।

अतः पहले साक्षी का अस्तित्व स्वीकार करने की शर्त है तब साक्ष्य (बयान)

पर विचार हो सकेगा। किन्तु यदि साक्षी का अस्तित्व स्वीकार कर लिया तो आपका प्रश्न अपने आप धराशायी हो जाता है क्योंकि आपके प्रश्न में यह प्रतिज्ञा है कि 'मैं नहीं हूँ' पर आपको 'मैं' का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा है।

इस विषय पर एक उदाहरण से और प्रकाश डाला जाता है। कोई गृह-स्वामी अपने घर पर किसी को छोड़कर जाता है। कुछ समय के बाद लौटने पर पूछता है कि कोई आया तो नहीं था। जो व्यक्ति घर पर रहा था वह कहता है कि आया था, अथवा नहीं आया। वह व्यक्ति इस बात का साक्षी है कि कोई आया अथवा नहीं आया। कोई आया था इसका भी वह साक्षी है, कोई नहीं आया इसका भी वह साक्षी है। किन्तु यदि गृह-स्वामी घर पर किसी को छोड़कर नहीं जाता, घर सूना पड़ा रहता है तो वापस लौटने पर घर पर 'कोई आया था या नहीं आया' इसका साक्षी कोई नहीं है। इसी प्रकार 'जगत है' अथवा 'नहीं है', 'मैं हूँ' अथवा 'मैं नहीं हूँ' इसका भी साक्षी होना चाहिये।

प्रश्न— सुषुप्ति काल में द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध नहीं है।

समीक्षा— जब द्रष्टा कहता है कि अमुक स्वप्न आया तो स्वप्न का साक्षी द्रष्टा है। जब द्रष्टा कहता है कि कोई स्वप्न नहीं आया तब भी पूर्व दिये गये उदाहरण के अनुसार किसी दृश्य के दृष्टिगत न होने का साक्षी द्रष्टा है। यदि द्रष्टा को उस स्थिति का साक्षी कि 'कुछ नहीं देखा' न माना जाय तो क्या प्रमाण है कि द्रष्टा ने कुछ नहीं देखा। अतः स्वप्न और सुषुप्ति में भी द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध है जैसा कि जाग्रत अवस्था में है। द्रष्टा का काम साक्षी देना है इस कारण हिन्दू दर्शन में उसे 'साक्षी चेता' कहा गया है।

अतः द्रष्टा का अस्तित्व जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में सिद्ध है। जाग्रत में जगत का अस्तित्व है। स्वप्न में जगत के भाव का, जो मन पर छाया, आभास के रूप में है, अस्तित्व है किन्तु सुषुप्ति अवस्था में जगत के अस्तित्व का भाव नहीं है किन्तु साक्षी द्रष्टा के अस्तित्व का भाव है। इस स्व-अस्तित्व के भाव की सुषुप्ति अवस्था में होने की पुष्टि जाग्रत होने पर होती है।

६. साकार निराकार व्याख्या — अभी तक हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जगत में दो प्रकार के द्रव्य पाये जाते हैं एक चैतन्य या चित् रूप है तथा दूसरे इनसे विपरीत अचेतन, चित् रहित जड़ रूप हैं। आधुनिक दर्शन में जड़ को पुदगल (*matter*) कहा जाता है।

हिन्दू दर्शनकारों ने चेतन को निराकार कहा है—

अमूर्तः पुरुषः । मुण्डकोपनिषद् २।१।१२
चेतन अमूर्त अर्थात् आकार रहित, निराकार है।

अरूपम् । श्वेताश्वर ३।१०
आकार रहित है।

वही उपनिषद् कहती है—

विश्वस्य परिवेष्टितारं । श्वेताश्वर ३।७
समस्त विश्व को घेरे है।

विश्वरूपो । श्वेताश्वर १।६
वह विश्वरूप है।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात् । ऋ. १०।९०।१ । श्वेता. ३।१४
वह जगत को सब ओर से घेरकर स्थित है।

व्यापकोऽलिङ्ग एव च । कठोपनिषद् २।३।८
व्यापक और सर्वथा आकार रहित है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो । कठ. २।३।१७
पुरुष अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला है।

आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः । श्वेता. ५।८
आरे की नोक जैसा सूक्ष्म आकार वाला ऐसा अपर परमात्मा से भिन्न जीवात्मा निःसंदेह देखा गया है।

इस प्रकार मन्त्रों, श्लोकों में दो विपरीत बातें कही गयी हैं। ईश्वर निराकार है पुनः वे ही शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर विश्वरूप है, विश्वव्यापी है। सर्वव्यापी भी एक आकार ही है। इसी प्रकार जीवात्मा को बिन्दु आकार वाला अणुरूप कहा गया है। तो जीवात्मा निराकार भी है तथा आकार वाला भी है ये दोनों तथ्य एक साथ कैसे हो सकते हैं। अस्तु उपनिषद् प्रोक्त निराकार क्या है यह जिज्ञासा का विषय है।

कोई भी सत्ता आकार रहित नहीं हो सकती। यदि ईश्वर को सर्वव्यापी कहें तो सर्वव्यापी भी आकार वाला हुआ क्योंकि जगत आकार वाला है उसमें व्याप्त हुआ ईश्वर भी आकार वाला हुआ। यदि ईश्वर को अनन्त कहें तो अनन्त भी एक आकार ही है जो सान्त, सीमित का विरोधी है। इसी प्रकार यदि चेतन जीवात्मा को बिन्दु रूप कहें तो बिन्दु भी एक आकार ही है। एतदर्थ निराकार के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

यदि हम साकार की परिभाषा कर लें तो निराकार की परिभाषा अपने

आप हो जाती है। निराकार साकार का विलोम है, साकार का उलटा है, साकार से विपरीत लक्षण वाला है।

(अ) साकार व्याख्या– साकार द्रव्य वे हैं जो परिणामी हैं तथा जो स्वयं अथवा उनका परिणाम इन्द्रियग्राह्य है।

परिणामी उसे कहते हैं जो किसी अन्य का कारण हो अर्थात् किसी अन्य द्रव्य की उत्पत्ति का उपादान कारण हो। उदाहरण के लिये मिट्टी से घड़ा बनता है मिट्टी परिणामी है घड़ा परिणाम है। कोयला जलकर राख, कार्बन डाई-आक्साईड, कार्बन मन आक्साईड आदि में परिवर्तित हो जाता है। कोयला परिणामी है उसका परिणाम राख, कार्बन डाईआक्साईड आदि हैं। आक्सीजन एवं हाईड्रोजन मिलकर पानी बनाते हैं। आक्सीजन हाईड्रोजन परिणामी हैं इनका परिणाम पानी है।

इलेक्ट्रान, प्रोटान अत्यन्त सूक्ष्म हैं ये दूरबीन से भी नहीं देखे जा सकते अर्थात् ये इन्द्रियातीत हैं किन्तु ये निराकार नहीं हैं क्योंकि ये परिणामी हैं। इनका परिणाम परमाणु है परमाणु का परिणाम अणु है। यह अणु इन्द्रियातीत नहीं है अतः इलेक्ट्रान, प्रोटान आदि साकार हैं।

इसी प्रकार मूल प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म है अव्यक्त कही जाती है वह किसी भी यन्त्र की सहायता से दर्शनीय नहीं है किन्तु मूल प्रकृति परिणामी है यह जगत अनन्तोगत्वा मूल प्रकृति का परिणाम (परिणाम का परिणाम) है। जगत इन्द्रिय-ग्राह्य है। यद्यपि प्रकृति इन्द्रियातीत है उसका परिणाम अथवा परिणाम के परि-णाम का परिणाम इन्द्रियातीत नहीं है इन्द्रियग्राह्य है अतः प्रकृति साकार है। वस्तुतः प्रकृति एवं प्रकृति से उद्भूत सभी परिणाम साकार हैं।

(ब) निराकार व्याख्या– निराकार तत्त्व वह तत्त्व है जो अपरिणामी है एवं इन्द्रियातीत है। क्योंकि यह तत्त्व किसी परिणाम की उत्पत्ति का उपादान कारण नहीं है अतः इसे इस भाव में (*in this sense only*) निष्क्रिय कह सकते हैं।

यह न तो किसी का परिणाम है न ही परिणामी है अर्थात् न यह किसी अन्य तत्त्व या तत्त्वों से कभी उत्पन्न हुआ, न ही यह कभी किसी अन्य तत्त्व की उत्पत्ति का उपादान कारण है। इसका तात्पर्य यह है कि निराकार किसी भी प्रकार के परिवर्तन से रहित है अर्थात् यह सदैव एक-सा रहता है। यह सर्वकालिक ज्यों का त्यों रहने वाला तत्त्व है। तत्त्व के इस गुण को नित्यता कहते हैं तथा तत्त्व को नित्य कहते हैं।

इस तत्त्व का किसी प्रकार भी विखंडन नहीं हो सकता क्योंकि यदि विखंडन होना स्वीकार करें तो तत्त्व का परिणामी होना आवश्यक है क्योंकि विखंडन होने पर नये परिणाम उद्भूत होना अवश्यम्भावी है। अतः तत्त्व अखंडनीय सदैव एक रस, एक-सा रहने वाला होता है। एतदर्थ यह निष्कर्ष निकला कि निराकार तत्त्व सर्वकालिक अपरिवर्तनशील है, न तो वह किसी का कार्य है, न किसी का कारण है। यह अवयव या घटक रहित होता है।

केवल अव्यक्त (*latent*) अर्थात् इन्द्रियातीत होने से कोई द्रव्य निराकार नहीं कहा जा सकता। द्रव्य का अपरिणामी होना आवश्यक है। यदि द्रव्य परिणामी है तो उसका परिणाम (*effect*) इन्दियातीत न होगा। यदि परिणाम भी इन्द्रियातीत हुआ तो उसके परिणाम का परिणाम इन्द्रियातीत न होगा। कहीं जाकर यह क्रम इन्द्रियग्राह्य हो जावेगा। अतः अपरिणामी होना ही निराकार होने का निर्णायक लक्षण है जो निराकार होने का पर्याप्त लक्षण (*sufficient condition*) भी है।

प्रश्न– निराकार द्रव्य इन्द्रियातीत है। जो द्रव्य इन्द्रियातीत है उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा और जिसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उसके अस्तित्व का क्या प्रमाण है?

समीक्षा– जो द्रव्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है उसका अनुभव हम विचार के द्वारा करते हैं। इस विचार के द्वारा उस इन्द्रियातीत द्रव्य का कोई न कोई लक्षण अवश्य अनुभव में आता है। जैसे दिक् (*space*) जिसे साधारण भाषा में आकाश कहते हैं निराकार तत्त्व है किन्तु वह हमारे अनुभव का विषय है।

प्रश्न– आकाश दिखाई पड़ता है अतः आकाश इन्द्रियातीत नहीं है तथा इस हेतु से निराकार नहीं है।

समीक्षा– आकाश दिखाई नहीं पड़ता। विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि जो नीला दिखाई देता है वह कोई द्रव्य नहीं है वरन् दिक् के असीम विस्तार के कारण हमारी दृष्टि की सीमा है।

प्रश्न– यदि आकाश दिखाई नहीं देता तो उसका अस्तित्व कैसे ज्ञात होगा। आकाश शून्य मात्र है, उसमें कोई गुण नहीं है अतः आकाश कोई द्रव्य नहीं है।

समीक्षा– यह सत्य है कि आकाश दिखाई नहीं देता। हम अपनी दृष्टि किसी शून्य स्थान में नहीं टिका सकते। हमारी दृष्टि जब भी टिकेगी तो किसी द्रव्य पर ही टिकेगी। उदाहरण के लिये रात्रि में हम तारों की ओर दृष्टि डालें। क्या हम पृथ्वी से ऊपर किसी तारे एवं पृथ्वी के मध्य किसी बिन्दु पर अपनी नजर ठहरा

सकते हैं ? क्या हम पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच किसी शून्य स्थान पर नजर टिका सकते हैं ? क्या हम दिन के समय अपने कमरे में बैठे हुए दो दीवालों के बीच शून्य स्थान में दृष्टि स्थिर कर सकते हैं, नजर टिका सकते हैं ? प्रत्येक का उत्तर यही है कि ऐसा सम्भव नहीं है । अतः आकाश नेत्र का विषय नहीं है, आकाश दर्शनीय नहीं है । वेदान्त दर्शन (२।२।२४) में कहा गया है कि–

आकाशे चाविशेषात्

आकाश के अविशेष होने से वह द्रव्य अर्थात् सत्ता है । अविशेष का अर्थ यह है कि अन्य द्रव्यों की तरह आकाश भी गुणरहित नहीं है वरन् गुणवान् ही है ।

दिक् (आकाश) गुणरहित नहीं है उसमें गुण है । आकाश में यह गुण है कि वह पदार्थों को अपने में ठहरने का, भ्रमण करने का स्थान देता है । प्रत्येक पदार्थ स्थान घेरता है जिसे आयतन कहते हैं । इसी प्रकार द्रव्यों की परस्पर दूरी, निकटता आदि के भाव आकाश के गुण हैं । नक्षत्रों के बीच की दूरी, पृथ्वी से सूर्य, चन्द्रमा की दूरी, सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के भ्रमण करने की कक्षा की वक्रता आदि वास्तविक गुण हैं। इसी प्रकार दूरी, लम्बाई, चौड़ाई, वक्रता (*curvature*) गोलाकार आदि आकाश के गुण प्रतीति के विषय हैं, इन भावों की वास्तविक सत्ता है अतः आकाश का अस्तित्व है ।

जिस गुण को वैज्ञानिक विमा (*dimension*) कहते हैं वह आकाश का लक्षण है । विमा एक वास्तविक व्यवहारिक भाव है इसमें दूरी, आयतन, वक्रता आदि सभी सन्निहित हैं इसी कारण आकाश को तीन विमा वाला कहते हैं । इसी प्रकार समय का अस्तित्व भी भाव रूप है । विमा के बिना शून्य की परिभाषा भी नहीं की जा सकती क्योंकि शून्य विमारहित (*dimensionless*) को कहते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक देशीय होना, निकटवर्ती होना, दूर होना, क्षेत्रफल होना, स्थान घेरना, वक्राकार मार्ग पर चलना, ऊपर जाना, नीचे जाना, दिशा का होना आदि व्यवहारिक भावरूप गुणों एवं लक्षणों से दिक् (आकाश) की सत्ता प्रस्थापित होती है ।

समस्त परिवर्तन पदार्थों में होता है किन्तु आकाश प्रकृति के कणों के संयोग से उत्पन्न द्रव्य नहीं है अर्थात् आकाश परिणाम नहीं है, न ही परिवर्तनशील है अतः आकाश एक नित्य, सदा एक-सा रहने वाला निराकार तत्त्व है ।

आकाश उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उसकी उत्पत्ति विषयक श्रुति नहीं है । (न वियदश्रुतेः वे. द. २।३।१)

शब्दाच्च ।
शब्द से भी आकाश की उत्पत्ति न होना ही सिद्ध होता है ।

ब्रह्म को आकाश की तरह व्यापक व नित्य कहकर आकाश में भी विभुत्व (व्यापकता) व नित्यत्व सिद्ध किया है–
'आकाश शरीरं ब्रह्म' (तै. १।६।२)
अर्थात् आकाश ब्रह्म का शरीर है। इस प्रकार श्रुतियों ने आकाश को ब्रह्म के विशेषण रूप से कथन किया है। यदि आकाश की उत्पत्ति होती तो वह ब्रह्म का विशेषण नहीं हो सकता था। (शांकर भाष्य)

प्रश्न– महान् वैज्ञानिक सर अलवर्ट आईन्सटीन ने दिक् (*space*) को सापेक्ष (*relative*) अर्थात् परिवर्तनशील माना है अतः दिक् स्थायी तत्त्व नहीं है ।

समीक्षा– यह विचार भ्रमपूर्ण है सर ने ऐसा नहीं माना है। उन्होंने वस्तु (*object*) की स्थिति (*position*) को किसी दर्शक (*observer*) की स्थिति से सापेक्ष माना है क्योंकि विश्व में कोई वस्तु स्थिर नहीं है, सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। अतः दो वस्तुओं की परस्पर स्थिति (बीच की दूरी) सापेक्ष होती है जो सदैव परिवर्तित होती रहती है अर्थात् सदैव स्थिर नहीं रहती ।

दिक् में स्थित पुदगल (*matter*) गतिशील है दिक् स्वयं गतिशील नहीं है। दिक् में स्थित गैलेक्सियें गतिशील हैं। सम्पूर्ण दिक् किसकी सापेक्षता से गतिशील होगा। गति सापेक्ष होती है, सापेक्षता के लिये दो के बीच तुलना आवश्यक है। यदि दिक् को गतिशील कहा जाय तो यह किसकी सापेक्षता से (*relative to what*) गतिशील है। पृथ्वी पर स्थित दर्शक भी दिक् के अन्दर ही है जैसे ट्रेन पर सवार व्यक्ति की सापेक्षता से ट्रेन गतिहीन है। ट्रेन उन लोगों की सापेक्षता से गतिवान् है जो ट्रेन में नहीं है। इस प्रकार यदि यह कहें कि दिक् गतिशील है तो हमें दिक् के बाहर जाना होगा जो असम्भव है। अतः दिक् स्थिर है लोक समूह (*gallaxies*) गतिशील हैं।

प्रश्न– वैज्ञानिकों ने इस विश्व को (*expanding universe*) विस्तार होने वाला विश्व कहा है अतः दिक् उत्पत्तिवान् है। दिक् का प्रसार होता है।

समीक्षा– वैज्ञानिकों ने कहा है कि गैलेक्सियां परस्पर एक दूसरे से दूर जा रही हैं इसे ही विस्तार होने वाला विश्व कहा जाता है। ध्यान रहे गैलेक्सी एक पिण्ड समूह है, एक भौतिक पदार्थ (*physical matter*) का संघात (*union*) समग्ररूप (*aggregate*) है।

दो गैलेक्सियों का परस्पर दूर जाना वैसा ही है जैसे दो भिन्न दिशाओं में (कोणों से) फेंकी गयी गेंदों का एक दूसरे से दूर जाना है। इसमें किसी प्रकार नवीन दिक् की उत्पत्ति नहीं होती। मौजूद, विद्यमान दिक् में दो पिण्ड समूहों का पृथक्-पृथक् दिशा में गतिवान् होने मात्र से नवीन दिक् की उत्पत्ति नहीं होती। यदि दिक् पूर्व से ही वर्तमान न हो तो गति सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये यदि एक फुग्गे को, उसके पूर्ण प्रसार के लिये जितने स्थान की आवश्यकता है उससे कम स्थान में प्रसारित किया जाय तो वह फूट जायेगा। फुग्गे का प्रसार पूर्व से ही वर्तमान दिक् में होता है वैसी ही स्थिति गैलेक्सियों के प्रसार की है।

७. क्या चेतन निर्गुण है— अब हमें सूत्र के अन्तिम तथ्य पर विचार करना है। क्या चेतन गुणरहित है? हम अध्याय दो में देख चुके हैं कि (सत्ता) द्रव्य वही है जो सामान्य विशेषवत् हो तथा गुणवत् हो अर्थात् किसी द्रव्य के समान गुण वाला हो तथा किसी द्रव्य से विशेष गुण वाला हो। सत्ता के अस्तित्व का ज्ञान उसके गुणों के अनुभव में आने से होता है यदि किसी भी प्रकार के गुण का अभाव है तो द्रव्य के होने का क्या प्रमाण हो सकता है।

द्रव्य की सत्ता की कसौटी द्रव्य के गुणों का अनुभव में आना है—

'लक्षण प्रमाणाभ्याम् वस्तु सिद्धि'

लक्षण से ही वस्तु के अस्तित्व की सिद्धि होती है। यदि वस्तु का अस्तित्व है तो उसमें गुण होना ही चाहिये। तो फिर उपनिषद् प्रोक्त पद–

अलिङ्ग एव च। कठ.

चेतन चिन्ह रहित है, गुण रहित है इसका क्या अर्थ है?

अलिङ्ग (अर्थात् चिन्ह रहित) का अर्थ है चेतना इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों से ज्ञात होने वाले चिन्ह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध उसमें नहीं है। चेतन इन्द्रियातीत है यह हम पूर्व में निर्धारित कर चुके हैं। अब हमें यह देखना शेष है कि गुणरहित होने का अर्थ क्या है। प्रकृति के गुण वेग, संयोग, संपर्क, विकास, क्षय, वृद्धि आदि चेतना के गुण नहीं हैं चाहे वह चेतन जीवात्मा हो या परमात्मा हो यही बात इस पद द्वारा कही गयी है।

अनेकानेक श्रुतियों, उपनिषद् वचनों*, दर्शन आदि में ईश्वर को सृष्टि रचयिता, जगत का स्वामी, सर्वज्ञ आदि कहा गया है वही श्रुतियाँ यदि ईश्वर को

---

* स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वं विद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसार मोक्ष स्थितिबन्ध हेतुः॥ श्वे. उ. ६।१६

निर्गुण कहतीं हैं तो परस्पर विरोधाभास होता है। अतः निर्गुण का अर्थ यही है कि चेतन में प्रकृति के गुण नहीं हैं।

यह बताया जा चुका है कि चेतन निराकार है अर्थात् चेतन इन्द्रियातीत है तथा अपरिणामी है। प्रकृति इन्द्रियातीत होते हुए भी परिणामी होने के कारण साकार है। परिणामी सत्ता में तीन प्रकार के विकार होते हैं—

प्रथम संयोग करना– घटकों के आपस में मिलकर, संयुक्त होकर स्थित होने या नये रूप धारण करने को संयोग करना कहते हैं। जैसे पानी के कणों को मिलाने से कणों का नया संयुक्त वृहत् रूप धारण करना या आक्सीजन, हाईड्रोजन गैस का परस्पर संयुक्त हो पानी बनाना, पानी का ताप के संयोग से गर्म होना।

द्वितीय विकार विभाग होना– किसी सत्ता का घटकों में विभक्त होने का विभाग होना कहा जाता है। जैसे ठोस, द्रव या वायु के विभाग हो सकते हैं। ठोस टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, द्रव बूंद-बूंद में विभक्त हो जाता है। वायु दीवारों से विभक्त हो जाता है। वायु मकान के बाहर है, मकान के अन्दर है किन्तु दीवारों में नहीं है, दीवारें उसे पृथक् करती हैं।

तृतीय विकार रूपान्तरित होना– आकृति या अवस्था में परिवर्तन को रूपान्तरित होना कहते हैं। जैसे सोना अलंकारों में रूपान्तरित हो जाता है। सोना अपने मूल धातु रूप में रहता है किन्तु उसकी आकृति बदल जाती है। मिट्टी से घट बनना रूपान्तर है।

काल के प्रभाव से या अन्य बाह्य प्रभाव से अवस्था परिवर्तन भी इसी वर्ग का विकार है जैसे प्राणी की देह का बचपन, युवावस्था और बुढ़ापे का आना या पानी का बर्फ या भाप में बदल जाना, रेडियो धर्मी पदार्थ का काल के प्रभाव से अवस्थान्तरित होना आदि तथा विकास, क्षय, वृद्धि इस विकार के अन्तर्गत हैं।

इन तीन प्रकार के विकारों में से मूल प्रकृति में प्रथम तथा तृतीय विकार है प्रकृति के मूल कण परस्पर संयोग करके नया यौगिक बनाते हैं किन्तु प्रकृति में विभक्त होने का द्वितीय विकार नहीं है। प्रकृति अखंड है।

चेतन सत्ता इन तीन प्रकार के विकारों से मुक्त है, चेतन सत्ता का किसी अन्य सत्ता से संयोग नहीं हो सकता। देह से संबंध होना समवायि संबंध नहीं है वरन् व्यापक, व्याप्य संबंध है। जीवात्मा देह में उसी प्रकार रहता, आता, जाता है जैसे हम मकान में रहते, आते, जाते हुए भी मकान की सत्ता से, स्वरूप से पृथक् हैं।

इस प्रकार चेतनः किसी प्रकार रूपान्तरित नहीं होता, न काल से, न अन्य सत्ता के प्रभाव से। चेतन सदैव एक-रस अविकारी बना रहता है उसके इस गुण को उपनिषदों में निर्गुण होना कहा गया है। निर्गुण से तात्पर्य यह है कि चेतन में प्रकृति के गुण नहीं हैं, वह प्रकृति के गुणों से गुणातीत है।

उपरोक्त मीमांसा के अनुसार ही साकार निराकार, सगुण निर्गुण को समझना चाहिये। इस प्रकार प्रकृति और प्रकृति से उद्भूत परिणाम साकार एवं सगुण हैं। चेतन जीवात्मा, परमात्मा प्रकृति के परिणाम नहीं हैं अतः प्रकृति के गुणों से रहित हैं, प्रकृति से वैलक्षण्य हैं, प्रकृति से विलक्षणता दर्शाने के लिये इन्हें निराकार एवं निर्गुण कहा जाता है। प्रकृति या प्रकृति से उद्भूत परिणाम दृश्य हैं, द्रष्टा दृश्य से पृथक् है। दृश्य स्वरूप से परिणामी होता है, द्रष्टा स्वरूप से परिणामी नहीं है अतः द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता।

प्रश्न– यह सिद्धान्त गलत है कि द्रष्टा दृश्य नहीं हो सकता। आँख द्रष्टा है तथा आइने के सामने दृश्य भी है।

समीक्षा– यह उदाहरण अदर्शन का परिणाम है। जिसे हम आइने में देखते हैं वह आँख नहीं है आँख की छाया है, प्रतिबिम्ब है। दोनों पृथक् वस्तुएँ हैं। आइने में खरोंच आ जाने पर या आइने के टूट जाने पर आँख पर कोई असर नहीं होता। अतः आँख और प्रतिबिम्ब एक नहीं हैं।

वास्तव में आँख द्रष्टा नहीं है। देह के अन्य अंगों की तरह दृश्य ही है, द्रष्टा का साधन मात्र है। पूर्व मीमांसा में यह बताया जा चुका है कि प्रकृति से उद्भूत परिणाम दृश्य हैं। आँख प्रकृति का अंश है द्रष्टा आँख से भिन्न एवं परे है। द्रष्टा निर्विकार है जबकि आँख सविकार है। स्वप्न आँखों के बिना ही देखा जाता है, स्वप्न का द्रष्टा ही द्रष्टा है जो आँख से भिन्न है।



अध्याय ६

द्रष्टा चेतन की साधनभूत मन - इन्द्रियां व उनसे द्रष्टा का भेद

गत अध्याय में द्रष्टा के स्वरूप की मीमांसा उपनिषद् के सूत्र

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च

के आधार पर की गयी है। वहाँ द्रष्टा के सूत्र प्रोक्त तीन लक्षणों में से दो लक्षण – साक्षित्व एवं निर्गुणत्व की व्याख्या की गयी है। उस व्याख्या से यह निश्चित हुआ कि द्रष्टा अपने अस्तित्व की अनुभूति के लिये इन्द्रिय जन्य ज्ञान पर आश्रित नहीं है। द्रष्टा की स्वयं के अस्तित्व की अनुभूति निरपेक्ष (*unqualified*) है, जगत की सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय जन्य है द्रष्टा की स्वानुभूति पर निर्भर द्वितीयक (*secondary*) है। इस प्रकार दो वैलक्षण्य पृथक् सत्ताओं के अस्तित्व का बोध होता है। ये सत्ताएँ हैं द्रष्टा एवं दृश्य। द्रष्टा विचार करने में सक्षम है अतः चित् शक्ति वाला है, चैतन्य है। दृश्य चित् शक्ति से रहित है अर्थात् विचार शक्ति से रहित जड़ है अचेतन है, मात्र प्रमेय (*object*) है।

इस अध्याय में हमें चेतन के साधनों का विवेचन तथा उनका चेतन से भेद निरूपित करना है उत्तर भाग में चेतन के लक्षणों की व्याख्या की गयी है।

१. चेतन के साधनों का विवेचन –

प्रश्न – चेतन के मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन्द्रियों के विषय-क्रम से ही व्यवस्था है। इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं वे अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। चक्षु से रूप का ग्रहण होता है न रहने पर नहीं होता। जो जिसके रहने पर होता है तथा न रहने पर नहीं होता वह उसी का विषय होता है। इसलिये रूप ज्ञान चक्षु का विषय है इसी प्रकार अन्य इन्द्रियें अपने अपने विषय का ज्ञान करने वाली हैं। इन्द्रियों के भाव अभाव से उनके विषयों का ग्रहण होना, न होना देखा जाता है अतः इन्द्रियाँ चेतन हैं पुनः दूसरा चेतन मानने की क्या आवश्यकता है?

समीक्षा – उक्त विचार उचित नहीं है इसमें यह युक्ति है –

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्। न्या. ३।१।१

दर्शन चक्षु तथा स्पर्शन त्वचा इन्द्रियों द्वारा एक ही प्रमेय (पदार्थ) के ग्रहण होने से।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करती है किन्तु अन्य इन्द्रिय के विषय को ग्रहण नहीं करती अतः इस प्रकार एक ही देह में पाँच चेतन मानने पड़ेंगे क्योंकि व्यवहार में यह देखा जाता है कि जिसको मैंने देखा है उसे ही छू रहा हूँ। दोनों ज्ञान एक ही कर्ता द्वारा गृहीत होते हैं। इस प्रकार विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञानों का प्रतिसंधान कर्ता, उनका एकत्रीकरण करने वाला उन इन्द्रियों से भिन्न एवं एक ही है। चेतन कान से वाणी को सुनकर वर्णाक्षरों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करता हुआ पदवाक्यानुसार रखकर शब्द अर्थ व्यवस्था को समझता है। इस प्रकार प्रमाता सर्वविषयक ज्ञान को एक आश्रय पर एकत्र करता है, प्रत्यक्ष अनुमान, संशयादि नाना विषयक तथ्यों को एकाश्रय के सहारे जानता है। प्रमाता की सर्वेन्द्रिय सर्वज्ञता की यह ज्ञेय व्यवस्था सिद्ध है जिसका अतिक्रमण नहीं हो सकता।

प्रश्न में निहित इस विचार के निराकरण के लिये दूसरी युक्ति दी जा रही है यथा -

इन्द्रियान्तर विकारात्। न्या. ३।१।१२

एक इन्द्रिय द्वारा विषय ग्रहण करने के अन्तराल में अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से।

किसी खट्टे फल को देखने मात्र से रसना इन्द्रिय में पानी आ जाता है। यदि इन दो इन्द्रियों का कोई एक ही इन दोनों से अन्य अनुसंधान कर्ता (संयोजक) नहीं है तो ऐसा नहीं हो सकता। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जाय तो नेत्र द्वारा देखे गये रूप से स्वाद के साहचर्य के आधार पर रसना में स्वाद का स्मरण नहीं हो सकता क्योंकि राम के देखे गये को मोहन नहीं जान सकता। यदि इन्द्रियां पृथक्-पृथक् चेतना धारण करें तो आँख के देखने पर रसना में संवेदना का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण हुए विषयों का एकाश्रयी होने से इन्द्रियों से पृथक् चेतन सत्ता सिद्ध है।

प्रश्न – न, आत्मप्रतिपत्ति हेतूनां मनसि सम्भवात्।
आत्मा की सत्ता के साधन जो हेतु कहे गये हैं उन सबकी पूर्ति मन के होने से हो जाती है मन देह का ही अवयव है अतः मन से पृथक् आत्मा नामक पदार्थ की सत्ता नहीं है।

समीक्षा – ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः। न्याय. ३।१।१६
ज्ञाता के ज्ञान सिद्ध होने से (मन करण है)
ज्ञाता की जिस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियें बाह्य करण हैं ज्ञान एकत्र करने के साधन हैं

वैसे ही अन्तःकरण है। जैसे आंख से देखता, कान से सुनता, नाक से सूंघता, त्वचा से स्पर्श करता है वैसे ही मन से मनन करता, बुद्धि से तर्क करता हैं। व्यवहार में यह कहा जाता है अपना मन लगाओ, मन से विचारो, बुद्धि से सोचो। ऐसे प्रयोग सब भाषाओं में सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं यह आकस्मिक नहीं है वरन् आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित है अतः अन्तःकरणों का होना स्वाभाविक प्रतीत होता है।

प्रश्न — दो भिन्न अन्तःकरण मन, बुद्धि मानने की क्या आवश्यकता है एक से ही सब कार्य हो सकते हैं।

समीक्षा – एक मानने पर भी उसके दो विभाग मानने ही पड़ेंगे। जाग्रतावस्था में दो की पृथक् प्रतीति नहीं होती किन्तु स्वप्नावस्था में दो की प्रतीति होती है। स्वप्नावस्था में किसी को यह ज्ञान नहीं होता कि वह स्वप्न देख रहा है। यह बुद्धि करण के कार्य स्थगित कर देने कारण ही तर्क शक्ति का अभाव देखा जाता है। अतः मन व बुद्धि के पृथक् पृथक् करण होने की बात स्पष्ट है।

हिन्दू दार्शनिकों के अनुसार सतत विचार क्रम उत्पन्न करने वाला मन है, तर्क वितर्क करने वाली बुद्धि है तथा स्मृति संजोये रखने वाला चित्त है, ये तीनों ही भौतिक साधन माने गये हैं। साथ ही अहंकार एक वृत्ति या दशा है। ये चारों मिलकर अन्तःकरण कहलाते हैं। अहंकार वृत्ति का विवेचन एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत किया जायगा। यहां चेतन की स्वरूप मीमांसा के संदर्भ में मन बुद्धि चित्त के लक्षणों की मीमांसा ही उपादेय है।

मन विचारों के क्रमागत तारतम्य को उद्भूत करने के लक्षण वाला है। विचारों के तारतम्य के पीछे एक दूसरा लाक्षणिक पहलू दृष्टिगोचर होता है वह है विचारों की तर्क पूर्ण समीक्षा। किसी विषय पर निर्णय लेने के पूर्व जो तर्क-वितर्क, विश्लेषण, समन्वय देखा जाता है वह इसी बुद्धि रूपी भौतिक साधन के द्वारा सम्पन्न होता है। बुद्धि चेतन द्रष्टा का राजा के मन्त्री की तरह सलाहकार है, परामर्शदाता है किन्तु स्वयं राजा अर्थात् निर्णय लेने वाला नहीं है। इस प्रकार किसी विषय पर सभी प्रकार अच्छे बुरे (*pros and cons*) पहलू प्रस्तुत करने वाला साधन (कम्प्यूटर) बुद्धि है किन्तु प्रस्तुत पहलुओं का निर्णय करने वाला चेतन द्रष्टा है।

जाग्रत अवस्था में चेतन द्रष्टा बुद्धि करण के द्वारा अपनी इच्छा शक्ति से मन को नियंत्रित करता है। जब मन किसी वस्तु को देखकर उसे पाने के लिये लालायित होता है तो बुद्धि ही वास्तविक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हुई उस वस्तु को पाने में वर्तमान समस्याओं को प्रस्तुत करती है तथा तदनुसार निश्चय को प्रभावित

करती है बाजार में अनेक वस्तुएं देखकर मन उन्हें पाने को उत्सुक होता है तब बुद्धि कहती है कि इस वस्तु का विनिमय कीमत देकर होगा, हमारे पास कीमत है या नहीं, आदि। इस प्रकार बुद्धि मन के विचारों को नियंत्रित करती है अतः बुद्धि मन से श्रेष्ठ कही गयी है।

मन पर एक समय में जो एक ही चित्र आता है उसका एक धूमिल चित्र (*negative*) मन के कोष में जमा हो जाता है इस कोष को चित्त कहते हैं, यह मन का अभिलेख संग्रहालय (*record room*) है। जाग्रत अवस्था में जब चेतन द्रष्टा बुद्धि के द्वारा मन को प्रेरित करता है तो मन अपने कोष से पूर्व संचित चित्र को प्रस्तुत करता है, इसे पहचान कर द्रष्टा व्यक्त करता है, इसे पहचानते हैं, देखा था या सुना था इसे स्मृति कहते हैं।

स्वप्नावस्था में बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है किन्तु मन सक्रिय रहता है। वह बुद्धि की तर्क वितर्क शक्ति के अभाव में अनियंत्रित हो जाता है तब वह अपने चित्त रूप कोष में भटकता हुआ अव्यवस्थित विषयों के चित्र खोलता है। द्रष्टा द्वारा मन पर आये चित्रों का देखा जाना यही स्वप्न है। स्वप्न में बुद्धि शक्ति का अभाव तथा मन की विद्यमानता, बुद्धि और मन के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करती है।

कठोपनिषद् में देह तथा अन्तःकरण की शक्तियों सहित जीवात्मा का रथी के रूप में अति सुन्दर वर्णन है– (१।३।३,४)

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिम् विद्धिः मनः प्रग्रहमेव च॥

आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि रथवाहक सारथी है, मन लगाम है जिसका नियंत्रण बुद्धि के हाथ में है।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान्स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषणः॥

ज्ञानीजन इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं, विषयों को उनके विचरने का मार्ग कहते हैं, इन्द्रिय मन युक्त जीवात्मा को भोक्ता कहते हैं।

यह भी क्रम कहा गया है– (१।३।१०)

इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।

इन्द्रियों से बलवान् विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) हैं, विषयों से बलवान् मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है तथा बुद्धि से भी श्रेष्ठ एवं परे आत्मा है चेतन व स्वामी होने से।

अनेक विद्वान् आत्मा की सत्ता को नहीं मानते तथा मन, बुद्धि आदि भौतिक करणों को ही आत्मा का विकल्प मानते हैं। आगामी अनुच्छेदों में मन, बुद्धि के लक्षणों का विवेचन करते हुए यह देखना है कि क्या मन, बुद्धि चेतना के विकल्प हो सकते हैं, क्या ये चेतन के स्थान की पूर्ति करते हैं।

२. मन परीक्षा प्रकरण — न्याय दर्शन (३।२।६) में मन का लक्षण इस प्रकार कहा गया है–

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम्।

मन क्रमवृत्ति वाला होने से एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करता है दो को नहीं, अतः एक ही इन्द्रिय के विषय को एक समय में ग्रहण करता है।
इस कारण मन का लक्षण है। (न्या. सू. १।१।१६)

युगपज्ज्ञानानुपत्तिर्मनसो लिङ्गम्।

एक साथ दो विषयों का ज्ञान न होना मन का चिन्ह है, मन की पहचान है। एक समय में एक ही विचार को उत्पन्न करने वाला मन है। मन एक तरंगवान् चल-करण (*one idea–wave carrying dynamic organ*) है।

यदि करण मन की सत्ता न मानी जाय तो एक साथ सभी या एक से अधिक विषयों का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि चेतन का संसर्ग एक साथ ही सभी इन्द्रियों से रहता है। रूप, गंधादि का युगपत् इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर भी अर्थात् एक साथ मिलाप होने पर भी सभी ज्ञान एक साथ नहीं होते। रूप का ज्ञान होते समय श्रवण का ज्ञान नहीं होता। गंध ज्ञान होते समय रूप ज्ञान नहीं होता। अतः इस प्रत्यक्ष अनुभव से यह अनुमान स्वाभाविक है कि चेतन का कोई अन्य अतीन्द्रिय सहकारी अवश्य है, सहयोगी अनिवार्य है जिसकी मध्यस्थ संलग्नता के बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिये यह मानना आवश्यक है कि इन्द्रिय द्वारा प्रस्तुत विषय का चेतन द्वारा ग्रहण होना, न होना मन के मध्यस्थ रूप से संयुक्त होने, न होने पर निर्भर है। मन ही द्रष्टा एवं इन्द्रिय के बीच का वह माध्यम है जो द्रष्टा को विषय से संपर्क कराता है। वैशेषिक दर्शन में इस सत्य को इस सूत्र (३।२।१) में निहित किया गया है–

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्।

आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ (विषय) के परस्पर निकट आने पर अर्थात् संसर्ग होने पर विषय के ज्ञान का होना, न होना मन का चिन्ह है, मन पर निर्भर है।

इन्द्रिय के सन्मुख विषय प्रस्तुत होने पर भी जब तक मन इन्द्रिय से संयुक्त नहीं होता आत्मा को ज्ञान नहीं होता। मन जिस एक इन्द्रिय के साथ युक्त हो

जाता है उसी इन्द्रिय का विषय प्रकाशित होता है अन्यों का नहीं। जैसा कि उपनिषद् वचन में कहा गया है–

अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषं। (बृह. उ. १।५।३)

मन के अन्यत्र लगे रहने से नहीं देखा, मन के अन्यत्र लगे रहने से नहीं सुना।

कोई विद्यार्थी पढ़ने में व्यस्त हो तो निकट बैठे लोगों की चर्चा नहीं सुन पाता। एक बार एक जुलूस गाजे-बाजे के साथ एक मार्ग से निकला। स्वामी रामकृष्ण परमहंस को भी उस मंडली के साथ जाना था, उन्हें कुछ देर हो गयी तब वे शीघ्रता करते हुए आये। उसी मार्ग पर जहां से मंडली गयी थी, एक चित्रकार से उसकी दूकान में जाकर पूछा कि कोई जुलूस तो नहीं निकला इस मार्ग से। तो उस चित्रकार ने कहा कि नहीं निकला। जब स्वामी जी वहां पहुंच गये जहां जुलूस को रुकना था तो उन्होंने पूछा कि वे लोग किस मार्ग से आये थे। यह पता लगने पर कि जुलूस उसी मार्ग से आया था जिस पर चित्रकार की दूकान है, वे चित्रकार की दूकान पर गये और उन्होंने चित्रकार से झूट बोलने का कारण पूछा। तब चित्रकार ने कहा महाराज मैं चित्र बनाने में संलग्न था मैंने न कुछ देखा, न कोई आवाज सुनी तब मैं आपके कैसे कह देता कि जुलूस यहाँ से निकला। इस पर परमहंस जी बोले अरे भाई तू तो मुझ से भी बड़ा योगी है।

मन की संलग्नता के बिना विषय ग्रहण नहीं होता। न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि ने (न्या. भाष्य २।१।२५) इस सत्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है -

मनः सन्निकर्षापेक्षा इन्द्रियार्थ सन्निकर्षो ज्ञान कारणं।

इन्द्रिय तथा विषय की सान्निध्यता से, इन्द्रिय विषय के निकट हो जाने से भी मन की संलग्नता को अपेक्षा रखती है अर्थात् आत्मा, मन और इन्द्रिय इन सबके एक ही अर्थ (विषय) पर केन्द्रीभूत होने पर, इनके एकाग्र होनेप र ही विषय की उपलब्धि होती है। इनमें से आत्मा नित्य द्रष्टा है तथा इन्द्रियां भी विषय के प्रस्तुत होते ही ग्रहण करती हैं, इन्द्रियां विषय को सतत प्रस्तुत करती हैं मन ही चंचल है जिसका इन्द्रिय के साथ संयुक्त होना, न होना विकल्प है मन को चुनाव (*choice*) की स्वतंत्रता है। मन जिस इन्द्रिय के साथ संयुक्त होता है वही विषय चेतना द्वारा ग्रहण होता है

प्रश्न – यदि मन को परिवर्तनशील मानोगे तो किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानं। दो ज्ञानों का समान अर्थ में प्रत्यभिज्ञान कैसे होगा

ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसंधानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

दो ज्ञानों को समान अर्थ में जानना प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । जैसे जिसको मैंने पूर्व देखा था उसीको अब देख रहा हूँ, पूर्व के ज्ञान तथा वर्तमान के ज्ञान का परस्पर मिलान करके उसके एकसा होने का निश्चय करना यह सन्धि प्रत्यभिज्ञान कहलाती है । मन को परिवर्तनशील मानने पर पूर्व का ज्ञान (मन पर का चित्र) तो समाप्त हो गया पुनः स्मृति का आधार क्या होगा जिससे पूर्व के देखे हुए को पहचाना जा सके, अतः

पुरुषस्यान्तः करण भूता नित्या बुद्धिरिति ।

पुरुष की मनोरूप बुद्धि अविनाशिनी है ।

उपरोक्त मत सांख्या के प्रौढिवाद का है ।

समीक्षा – इसका उत्तर न्याय शास्त्र के तर्क के आधार पर दिया जाता है

साध्य समत्वादहेतुः । ३।२।३

जिस प्रकार बुद्धि का नित्यत्व साध्य है उस प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी साध्य (सिद्ध किया जाना) है । प्रत्यभिज्ञान किसको होता है, कैसे होता है यह तथ्य अभी साध्य है । ज्ञान, दर्शन, बोध, साक्षित्व, उपलब्धि, अध्यवसाय (प्रयत्न, संकल्प) चेतना के धर्म हैं । चेतन ही पूर्व ज्ञात अर्थ की वर्तमान ज्ञात अर्थ से संधि करता है । अतः चेतन तो नित्य है किन्तु यदि अन्तःकरण को भी नित्य मानोगे तो सदा मन की वृत्ति (चित्र) एक ही स्थिर होकर रहेगी तब किसी नवीन ज्ञान के होने का अवसर उत्पन्न न होगा । अस्तु मन को परिवर्तनशील मानना ही उपयुक्त है ।

जिस देवदत्त को किसी काल में देखा था जब वह फिर सामने आता है तथा कहता है कि पहचानते हो, तो चेतन अपने मन को प्रेरित करता है यदि उसका पूर्व चित्र सामने आने में विलम्ब होता है तो कहता है ठहरो, फिर अपने चित्त को कुरेदता है तब पूर्व संचित कोष (*record room*) रूप चित्त से उसका पूर्व चित्र खोजकर ले आता है । द्रष्टा प्रत्यक्ष खड़े व्यक्ति से मानस पटल के चित्र को मिलाता है । साम्य स्थापित होने पर कहता है पहचानता हूँ आप अमुक हैं ।

इस प्रकार मन स्वयं अपने चित्र का द्रष्टा नहीं है द्रष्टा चेतन है । स्मृति चेतन का धर्म है, चेतन को होती है किन्तु चित्र को सुरक्षित रखना मन का धर्म है। मन भौतिक साधन है अतः मन का वह विभाग जिसे चित्त कहते हैं तथा जिसका धर्म चित्र को सुरक्षित रखना है नित्य नहीं है अर्थात् क्षय धर्मी है उसमें विकास, क्षय, वृद्धि होती रहती है जो भौतिक पदार्थ का धर्म है । अतः जब चित्त का

अभिलेख धूमिल हो जाता है तब क्षीण स्मृति, जब नष्ट हो जाता है तब स्मृति नाश, तथा जब चित्र स्वच्छ रहता है तो स्मृति उपलब्ध होती है। इस प्रकार पूर्व अनुभूत घटना को स्मरण करना चेतन द्रष्टा व मन (का विभाग चित्त) दोनों का सम्मिलित कार्य है। इस सत्य को शास्त्र ने इस सूत्र में निहित किया है (वै. द. ९।२।६)

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ।

पूर्व दृष्ट वस्तु विषयक ज्ञान के आभास की मन (चित्त) पर द्रष्टा (आत्मा) की प्रेरणा से पुनरावृत्ति होने पर द्रष्टा द्वारा भूतकाल के ज्ञानाभास की वर्तमान में प्रत्यक्ष अनुभूति स्मृति कहलाती है।

योग सूत्र में मन की दशा को वृत्ति कहा गया है। मन पर प्रति क्षण जो चित्र आता है वही मन की दशा या वृत्ति है। जैसा मन पर चित्र होता है द्रष्टा का ज्ञान भी तदवत् ही होता है। ज्ञान की परिभाषा भी यही है 'यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति' जैसी वस्तु प्रत्यक्ष में हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान है। जो वस्तु प्रत्यक्ष में होती है वैसा ही चित्र मन पर बनता है।

'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (यो. सू. १।४)

वैसा ही ज्ञान द्रष्टा का होता है।

३. क्षणिकवाद की समीक्षा प्रकरण — क्या चेतना पदार्थ की दशा रूप तारतम्य मात्र है इस विषय पर इस अनुच्छेद में विचार किया जायेगा।

प्रश्न– क्षणिकवाद का सिद्धान्त विज्ञान समर्थित है। क्षणिकवाद के अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील द्रव्य में भी निरन्तरता होती है जैसे प्रतिक्षण बदलने वाली दीपक की लौ में सातत्य देखा जाता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण परिवर्तनशील भौतिक चित्त (मन) में तारतम्य है, निरन्तरता है। चेतना कोई स्थिर द्रव्य नहीं है, चित्त की निरन्तर परिवर्तित होती हुई अवस्था ही चेतन मनस् है जो भौतिक पदार्थ के संयोग विशेष का परिणाम है इसके अतिरिक्त किसी चेतन के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं है।

समीक्षा– दीपक की लौ में तारतम्य नहीं है केवल दृष्टिगोचर होता है, एक लौ के प्रकट हो, नष्ट हो जाने पर दूसरी लौ तत्क्षण उसका स्थान ग्रहण कर लेती है तथा दूसरी के नष्ट होते ही तीसरी प्रकट हो जाती है। यह तथ्य विज्ञान समर्थित है इसे क्वान्टम प्रक्रिया (*quantum phenomenon*) कहते हैं। दीपक की लौ से प्रकाश शक्ति का संचार गुच्छों में, किस्तों (*bunch or instalment*) में होता है। इन किस्तों का त्याग (*release of energy*) इतनी शीघ्रता से होता है कि दो किस्तों के त्याग के मध्य का अवान्तर क्षण (*interval*) संयुक्त प्रतीत होता है

जबकि होता नहीं है। जैसे बिजली का चलता हुआ पंखा एक सिलसिलेवार, लगातार प्लेट सा प्रतीत होता है। विज्ञान में इसे भ्रम (*illusion*) कहते हैं।

इसी प्रकार मन की निरन्तरता एक भ्रम है। मन की दशा प्रति क्षण बदलती है। एक विचार उठता है फिर उसका लय होता है उसके स्थान पर दूसरे विचार का उद्गम होता है। प्रथम विचार के लय तथा दूसरे के उद्गम के बीच अवान्तर क्षण होता है जिसे संधिकाल कहा जा सकता है। यह प्रक्रिया चलती रहती है। सिनेमा की रील के पृथक्-पृथक् चित्र जब तेज रफ्तार से घुमाए जाते हैं तो उन असंयुक्त चित्रों के मध्य प्रवाह व निरन्तरता आ जाती है। जिस प्रकार प्रति क्षण बदलने वाली सिनेमा की रील का द्रष्टा उस बदलती हुई चित्रमय रील से पृथक् होता है उसी प्रकार प्रति क्षण बदलने वाले मन के अनेकानेक विचारों के तारतम्य (रील) का द्रष्टा, दृश्य-मन रूप रील से पृथक्, चेतन स्वरूप अनुभूति करने के गुण से सम्पन्न होता है। द्रष्टा, दृश्य से पृथक् होता है।

इस विषय में एक और युक्ति है जिसे प्रस्तुत किया जाता है। यदि आत्मा की सत्ता न मानी जावे जैसा कि अनात्मवादी कहते हैं तो एक ही समय में अनेक ज्ञानों का धारण न हो सकेगा। इस तथ्य को योग सूत्र में इस प्रकार कहा गया है—

एक समये चोभया, ऽनवधारणम्। (यो. सू. ४।२०)

एक ही समय में दो ज्ञानों का धारण न हो सकेगा।

जिस मन ने एक क्षण घट का भाव ग्रहण किया था वह परिवर्तनशील होने से समाप्त हो गया, वह अस्त हो गया। जिस मन ने अब पट की अनुभूति की है वह अन्य है। इस प्रकार प्रति क्षण मन की नयी दशा की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जिसके विषय भी बदलते जा रहे हैं। प्रति क्षण बदलने वाले मन के दो क्षणों के मध्य अन्तराल होने से विषय का तारतम्य न हो सकेगा वरन् खंडों का जोड़ मात्र ही होगा अतः ज्ञान के अंशों का संकलन करने वाली किसी स्थायी ज्ञाता सत्ता के अभाव में ज्ञान का संचय नहीं हो सकता। इस परिवर्तनशील क्रमिक व्यवस्था में अनेक ज्ञानों का एक साथ रहना समझाया नहीं जा सकता जो प्रत्यक्ष का विरोधी है क्योंकि शैशव से वर्तमान तक के अनेक ज्ञानों का होना विषयी (ज्ञाता) में देखा जाता है।

अस्तु परिवर्तनशील मन द्रष्टा नहीं हो सकता, द्रष्टा अविकारी, अपरिवर्तनशील एवं स्थायी होना चाहिये। योग सूत्र (४।१८) में इस सत्य को निहित किया गया है—

सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।

चित्त की वृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं उस चित्त के स्वामी जीवात्मा के अपरिणामी होने से।

(चित्त) मन में प्रति क्षण परिवर्तन होता है नये-नये चित्र आते हैं इस प्रकार मन परिणामी है किन्तु चित्त का स्वामी मात्र द्रष्टा है, वह मात्र ज्ञाता है जैसा चित्र चित्त पर होता है उसका ज्ञान तदनुरूप होता है। इस प्रकार द्रष्टा ज्ञाता मात्र है मन द्रष्टा नहीं हो सकता प्रति क्षण बदलने वाले परिणामी रूप वाला होने से। जिस प्रकार मोतियों को एक सूत्र में पिरोने वाले धागे के अभाव में मोती बिखर जाते हैं वैसे ही चेतन द्रष्टा के बिना विचारों का एक सत्ता में संग्रहीत होना सम्भव नहीं है।

४. मन दृश्य है द्रष्टा नहीं — पूर्व अनुच्छेद में मन और द्रष्टा के मध्य भेद का निरूपण किया गया है यहां उसी विषय पर कुछ और प्रकाश डाला जाता है।

प्रश्न– कोई चेतन द्रष्टा नहीं है भौतिक मन ही साक्षी है ऐसा क्यों न माना जाय।

समीक्षा– मन परिणामी है मन पर एक समय में एक ही चित्र बनता है। इस चित्र के मिट जाने पर दूसरा चित्र बनता है अतः मन स्वयं दृश्य है द्रष्टा नहीं है। जैसे दर्पण के सामने जो भी आता है उसका चित्र दर्पण पर बन जाता है किन्तु दर्पण चित्र अंकित करने वाला साधन है चित्र को देखने वाला दर्पण से भिन्न कोई और है अतः देखने वाले में कोई चित्र नहीं बनता, देखने वाला केवल द्रष्टा है, दृश्य नहीं है यह सत्य इस सूत्र में निहित है–

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। (यो. ४।१६)

वह चित्त (दर्पण की तरह) दृश्य होने से स्वयं प्रकाश नहीं है। द्रष्टा होने से जीवात्मा ज्ञान और चेतना प्रकाश वाला है किन्तु दृश्य - वस्तु ज्ञान, चेतना शून्य होती है। चित्त भी दृश्य है अतः वह ज्ञान, चेतना शून्य है। भेद केवल यह है कि चित्त पर अंकित चित्र द्रष्टा के समीप होता है तथा द्रष्टा में संवेदना उत्पन्न करने के लिये उपयुक्त सूक्ष्म संकेत (*signal*) के रूप में होता है। द्रष्टा अपरिणामी, नित्य एवं साक्षात्कृत धर्मी होता है।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (यो. सू. २।२०)

द्रष्टा शुद्ध अर्थात् अपरिवर्तनशील है तथा ज्ञान मात्र है, प्रत्यय चित्त को देखने वाला उसका साक्षी है, प्रत्यय चित्त पर जो भी होता है उसका ज्ञाता है, वह नित्य है, ज्ञान स्वरूप है, मन का द्रष्टा है। मन भौतिक करण है मात्र साधन है।

सुषुप्ति अवस्था में तथा समाधि अवस्था में मन निरुद्ध हो जाता है अर्थात् मन का कार्य स्थगित हो जाता है तब मन पर कोई चित्र नहीं आता। उस अवस्था का द्रष्टा इस तथ्य को साक्षी देता है कि मन पर कोई चित्र नहीं आया तब द्रष्टा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है–

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (यो. सू. १।३)



अध्याय १०

चेतन आत्मा के स्व-लक्षणों का विवेचन

गत अध्यायों में यह निश्चय हुआ कि द्रष्टा चेतन, अभौतिक एवं अपरिणामी सत्ता है मन करण है साधन मात्र है। द्रष्टा मन की वृत्ति का साक्षी है। इस अध्याय में द्रष्टा चेतन की स्व-शक्तियों, स्व-लक्षणों का विवेचन किया जायेगा। चेतन में तीन गुण देखे जाते हैं इन्हें तीन वर्गों में रख सकते हैं ज्ञातृत्व (*knowing*) ज्ञान करना, कर्तृत्व (*willing*) निश्चय करना, इच्छा शक्ति का प्रयोग करना तथा भोक्तृत्व (*feeling*) सुख दुःख का अनुभव करना।

१. इच्छा शक्ति या संकल्प शक्ति की सत्ता —

चेतना के कुछ ऐसे लाक्षणिक पहलू दृष्टिगोचर होते हैं जो मात्र विचार नहीं हैं। उदाहरण के लिये यदि हम गाँधीवाद के सिद्धान्त पर विचार कर रहे हैं या भारत की अर्थ व्यवस्था पर तो यह वैचारिक क्रिया केवल विचारों का तारतम्य होने से मात्र मन की वैचारिक क्रिया है। किन्तु किसी कार्य करने का निर्णय (उदाहरण के लिये यात्रा पर जाने का या मकान खरीदने या बेचने का) मात्र विचार नहीं है वरन् विचारों के तारतम्य से पृथक् सत्ता वाला है जिसे संकल्प कहते हैं। यह विचार साधारण विचार से विशिष्ट स्थिति का परिचायक है इसके परिणामस्वरूप मानसिक क्रिया की भौतिक कर्म के रूप में परिणति होना है। इस प्रकार विशुद्ध वैचारिक क्रिया के पीछे निर्णय करने वाला एक लक्षण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। यह साधारण विचारों की तरह नहीं होता इस लक्षण को संकल्प या इच्छा शक्ति (*will power*) कहते हैं।

२. इच्छा शक्ति व मन में भेद —

मानसिक क्रिया विचारों के तारतम्य तक ही सीमित नहीं है। किस विषय पर विचार करना है इसके लिये चेतन स्वतंत्र है। हम चाहें तो देश की राजनीति पर विचार करें, हम चाहें तो देश की अर्थ व्यवस्था पर चिन्तन करें; हम चाहें तो धर्म और अध्यात्मवाद पर विचार करें। अतः हमारे विचारों का विषय क्या हो इसे निर्धारित करने की स्वतंत्रता एवं शक्ति हमारी चित् शक्ति में है। यह विचारों की पहल करने की स्वतंत्रता यह दर्शाती है कि विचार चेतना की क्रिया का माध्यम है, चेतना की अभिव्यक्ति है चेतना नहीं है।

विचारों के पीछे एक प्रेरक शक्ति है जिसकी इच्छा के अनुरूप, जिसकी इच्छा से निर्देश पाकर ही यह विचारों की शृंखला उत्पन्न होती है। इच्छा शक्ति विचारों के तारतम्य के पराधीन नहीं है, विचार अपने आप को चेतना की इच्छा के प्रतिकूल बलात्, हठात् लाद (*thrust*) नहीं सकते। विचारों के पीछे एक प्रेरक शक्ति है यही इच्छा शक्ति विचारों की प्रेरक शक्ति है यह स्वयं विचार नहीं है। विचारों को उद्भूत करने वाला मन है। यह इच्छा शक्ति मन नहीं है यह मन को प्रेरणा देने वाली शक्ति है इसके निर्देशानुसार ही मन विचार करता है यह इच्छा शक्ति मन से पृथक्‌एवं श्रेष्ठ है।

३. इच्छा शक्ति व बुद्धि में भेद —

यह इच्छा शक्ति स्वतंत्र रूप से कार्य करती है। इसमें संकल्प–विकल्प की शक्ति है अर्थात् किसी कार्य को करने का निश्चय अथवा न करने का निश्चय करने की शक्ति है। इच्छा शक्ति का संकल्प-विकल्प सप्रयोजन होता है अर्थात् किसी कार्य के करने के पीछे उद्देश्य (*motive*) होता है, कोई प्रयोजन (*purpose*) होता है। इस उद्देश्य, प्रयोजन का निर्णय द्रष्टा चेतन अपने तर्क द्वारा, विचारों के विश्लेषण द्वारा करता है। अत: विचारों के तारतम्य के पीछे एक दूसरी शक्ति (*faculty*), एक दूसरा लाक्षणिक पहलू (*characteristic feature*) दृष्टिगत होता है वह है विचारों की तर्कपूर्ण समीक्षा (*evaluation of arguments for and against*). किसी विषय पर निर्णय लेने के लिये चेतन अपनी बुद्धि को प्रेरित करता है तब यह बुद्धि जो एक कम्प्यूटर है विषय पर अनेक पहलू (*aspects*) प्रस्तुत करती है ये सभी पहलू (पक्ष) मात्र विचार से अधिक कुछ नहीं हैं।

इन अनेकों पक्षों के आधार पर द्रष्टा चेतन उन पक्षों की जाँच करता हुआ अपने स्वभावानुकूल पहलू विशेष को अपनी इच्छा शक्ति से चुन लेता है तथा उक्त पक्ष को कार्य रूप में परिणत करने के लिये अपने निश्चय के रूप में निर्धारित करना है जिसे संकल्प कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि एक जमीन खरीदना है तो बुद्धि इन विचारों को प्रस्तुत करती है– जमीन शहर के बाहर तो नहीं है, उसमें बरसात में पानी तो नहीं भरता, वहां शहर के लिये वाहन उपलब्ध होता है या नहीं, जमीन की मिट्टी कैसी है; कीमत वाजिब है क्या आदि। ये विचार हैं जिन्हें बुद्धि-कम्प्यूटर प्रस्तुत करता है यहाँ तक ही बुद्धि का योगदान है आगे नहीं। आगे की भूमिका द्रष्टा चेतन की है। वह बुद्धि के विचारों को देखता व उनकी जाँच करता है तदन्तर निर्णय लेता है। यह निर्णय उसके अहं (*ego*) के अनुकूल, उसकी पसंद (*taste*) के अनुकूल तथा उसके स्वभाव (*nature*) के अनुरूप होता है। इस प्रकार इच्छा शक्ति की भूमिका बुद्धि से पृथक्, परे व श्रेष्ठ है।

४. कम्प्यूटर और चेतना में भेद —

चेतना की कार्य-प्रणाली तथा कम्प्यूटर की कार्य-प्रणाली में भेद है। कम्प्यूटर में अनेक सूचनाएँ भरी जाती हैं जब स्विच दबाकर कम्प्यूटर से उत्तर मांगा जाता है तो जो क्रम में प्रथम होता है उसे प्रस्तुत करता है। दुबारा स्विच दबाने से जो क्रम में द्वितीय होता है उसे प्रस्तुत करता है किन्तु ध्यान रहे कम्प्यूटर यन्त्र है उसमें इच्छा शक्ति का अभाव है, वह अपने मन से कोई नतीजा नहीं दे सकता। मानव के द्वारा स्विच दबाने रूप पहल (*initiative*) पर निर्भर है।

कम्प्यूटर में दूसरा दोष यह है कि वह (*data feeding*) सूचनाओं के संग्रह के लिये मानव पर निर्भर है तथा यह दोष भी है कि जो प्रस्ताव (*data*) उसमें भरा गया है उसमें से ही चुनाव कर सकता है, जबकि मानव में इच्छा शक्ति है वह तत्काल (*in a moment*) वस्तु स्थिति को देखते हुए नया निर्णय ले सकता है। उदाहरण के लिये एक कम्पनी (टुकड़ी) के नेता को सेनापति कुछ आदेश-निर्देश देकर किसी कार्य के लिये भेजता है पर कार्य-स्थल पर जाकर कम्पनी का नेता वस्तुस्थिति को जैसा उसे बताया गया था उससे सर्वथा भिन्न पाता है तब नेता को अपने विवेक से काम करना है। जो निर्देश उसे दिये गये थे उनके अनुसार कार्य करना वाञ्छित (*desirable*) नहीं है। यदि नेता कम्प्यूटर होता तो उसे किसी नये चुनाव की आजादी (*freedom of choice*) न होती यह कम्प्यूटर से चेतना का भेद है।

५. संकल्प में महान् शक्ति है —

जिस इच्छा शक्ति से मनुष्य किसी विचार को संकल्प (*resolve*) में बदलता है ऐसी इच्छा शक्ति का बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत अनेकों विकल्पों से भेद है। गीता के श्लोक में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

निश्चयात्मक स्वरूप वाली बुद्धि अर्थात् संकल्प धारण करने वाली बुद्धि एक ही होती है, अडिग होती है किन्तु

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।

संकल्प से रहित बुद्धि अनगिनत शाखाओं वाली होती है। जब मनुष्य किसी काम को नहीं करना चाहता तो उसके हजार बहाने ढूंढ़ता है उन संकल्परहित विचारों का क्रम अटूट होता है। संकल्प में कितनी शक्ति है संकल्प से कौन सा काम ऐसा है जो नहीं हो सकता यह हम मानव इतिहास में देख चुके हैं। राम को बनवास जाना था उन्हें हजारों विचार डिगा नहीं सके, भरत भी उन्हें वन से वापिस न ला सके।

इतिहास की घटना है मुगल सम्राट शाहजहां के दरबार में अमरसिंह राठौर प्रधान सेनापति थे। अन्य उमराव उनसे बहुत जलते थे। अवसर पाकर मुसाहिबों ने अमरसिंह की कोई शिकायत की जिससे नाराज होकर बादशाह ने अमरसिंह पर दो लाख का जुर्माना कर दिया। अमरसिंह ने इस जुर्माने को देने से इन्कार किया। बादशाह ने सलावत खां को जुर्माना वसूल करने की जिम्मेदारी सौंपी। दरबार में दोनों में कहा-सुनी हो गई। इस पर बादशाह ने सलावत खां का पक्ष लिया। अमरसिंह से यह कहा गया कि आगामी दरबार में जुर्माने की राशि लेकर हाजिर हों। अमरसिंह घर चले गये। उन्होंने दृढ़ निश्चय किया कि चाहे मृत्यु को वरण करना पड़े पर जुर्माना नहीं देंगे।

दरबार का दिन आया। अमरसिंह उस दिन बड़ी असामान्य स्थिति में थे उन्होंने अपनी रानी से भी बात नहीं की। रानी भी बड़ी चिन्तित थीं कि राजा साहब इतने खामोश क्यों हैं। अमरसिंह दरबार गये। जैसी कि संभावना थी सलावत खां ने जुर्माने का तकादा किया, जुर्माना देने से इन्कार करने पर सलावत खां ने कुछ अपशब्द कहे। अमरसिंह ने तुरन्त शेर की तरह झपटकर कटार भौंक दी। दरबारियों में हो-हल्ला मच गया। बादशाह ने अमरसिंह को गिरफ्तार करने का हुक्म दिया तब अनेक पहरेदार अमरसिंह की तरफ बढ़े। अमरसिंह ने तलवार किसी से छुड़ा ली तथा अंगरक्षकों को धराशायी व आहत करता हुआ अपने घोड़े तक आ गया। किले के फाटक बन्द हो चुके थे। तब अमरसिंह ने रक्षकों को मारते गिराते हुए बुर्ज पर घोड़ा चढ़ा दिया व वहां से किले के बाहर छलांग लगा दी। घोड़ा घायल हो गया, अमरसिंह घर आ गये। यह है संकल्प का परिणाम।

भगतसिंह व चन्द्रशेखर आजाद ने अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति का बीड़ा उठाया तथा परिणामस्वरूप मृत्यु का आलिङ्गन किया। संकल्प में महान् शक्ति है संकल्प साधारण विचार की श्रेणी में नहीं आता यह संकल्प शक्ति बुद्धि का गुण नहीं है। बुद्धि तो मन्त्री की तरह तर्क वितर्क करती हुई अनेक पक्ष प्रस्तुत करती है। मानना, न मानना चेतन का कार्य है। यदि संकल्प बुद्धि के अधीन होता तो अमरसिंह, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद वह काम न कर पाते जो उन्होंने कर दिखाया। बुद्धि तो सदैव यह तर्क प्रस्तुत करेगी कि इस काम में जान का खतरा है इसलिये यह कार्य करने लायक नहीं है किन्तु बुद्धि का स्वामी चेतन उस तर्क के सामने झुकता नहीं, वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहता है चाहे परिणाम जो भी हो। यदि बुद्धि का तर्क मानता तो बुद्धि भगतसिंह से यही कहती कि भगतसिंह तू तो शादी कर ले और दूसरों की तरह मौज से रह। क्या तूने ही ठेका लिया है देश

को आजाद करने का, अरे दूसरों की भी तो जिम्मेदारी है। देख तेरी माँ, बहन, बाप की क्या हालत हो रही है आदि। किन्तु संकल्प इन तर्कों के परे है उसके उद्‌गम का स्रोत बुद्धि नहीं है।

जब राजस्थान ही क्या, भारत के सभी राजाओं ने अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो राणा प्रताप अकेले कैसे उस महान् साम्राज्य शक्ति के सामने सीना तानकर खड़े हो गये। हल्दी घाटी की पराजय, उनके सामन्तों का एक-एक करके फूट जाना, कुम्भलगढ़ का पतन, १०-१२ साल जंगलों में खाक छानना, बच्चों को दाने-दाने को मोहताज होना आदि अनेक असाधारण परिस्थितियां उनके संकल्प को न डिगा सकीं। रानी और राजकुमार, कुमारी का गहन जंगलों में १२ वर्ष जीवन यापन के समान विषम परिस्थिति और क्या हो सकती है।

ज्ञात हुआ कि यह संकल्प बुद्धि का लक्षण नहीं है। बुद्धि के तर्क इस संकल्प को नहीं डिगा सकते। यह संकल्प दिव्य शक्ति, दिव्य प्रेरणा है परमात्मा में स्थित आत्मा का लक्षण है।

६. चेतना का जीव कोशिका से भेद निरूपण —

प्राणिशास्त्र द्वारा अनुसंधान की गई बहुचर्चित जीव कोशिकाएँ चेतन नहीं वरन् केवल प्राण शक्तियां हैं। वैदिक साहित्य में इस बायोलाजिकल शक्ति को प्राण* शक्ति कहा गया है जो प्राणिमात्र की शरीर रचना की सूक्ष्मतम इकाई है। जीव कोशिकाओं में संकेतों का आदान प्रदान आदि स्वचालित कार्य होता है जिससे देह इकाई शक्ति की रक्षा, संवर्धन एवं विकास होता है। जीव कोशिका चेतन नहीं है उसमें चेतन के लक्षण इच्छा शक्ति का सर्वथा अभाव है। जीव कोशिकाओं का स्वाभाविक गुण जीवन (प्राण) रक्षा व विकास है। देहगत रक्त में करोड़ों लाल कीटाणु (*red corpuscles*) हैं। जब किसी रोग के कीटाणु देह में प्रवेश करते हैं तो देह रक्षक लाल कीटाणु देह रक्षा हेतु उनसे संघर्ष करते हैं। इसी प्रकार जीव कोशिका का अपनी रक्षा के लिये सतत प्रयत्नशील रहना उसका स्वाभाविक कार्य है। इन कोशिकाओं में अपनी रक्षा हेतु संकेतों का आदान प्रदान तो हो सकता है किन्तु त्याग, बलिदान जैसे उदात्त कार्यों के लिये संकेत नहीं हो

---

* एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। मु. उ. २।१।३
स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।
प्र. उ. प्रश्न १।४
रयि और प्राण दो जोड़े प्रजापति भगवान् ने उत्पन्न किये। रयि रासायनिक तत्वों का समुदाय है, समग्र रूप है तथा प्राण जीवों की देह का कोशाणु है।

सकते। मानव को आत्महत्या करते हुए देखा जाता है। कोशिकाएँ व उनका समूह स्वहत्या के लिये संकेत नहीं दे सकते। कोशिकाओं में केवल एक गुण रह सकता है उत्तरोत्तर स्वविकास एवं स्वजीवन (*survival*) हेतु प्रयत्न (*struggle*) किन्तु कोशिकाओं में दो विपरीत गुण स्वरक्षा एवं स्वविनाश हेतु प्रयत्नशील होना (*self survival and self destruction*) एक साथ नहीं रह सकते। यदि चेतना कोशिकाओं का समूह है तो आत्महत्या के प्रसंगों को समझाया नहीं जा सकता। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि चेतन मानव में जो स्वेच्छा शक्ति दर्शनीय है वह कोशिकाओं का गुण नहीं है वह कोशिकाओं के जीवित रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के सर्वथा विपरीत गुण है।

मानव से इतर सभी प्राणी सुख के हेतु से जीते हैं, सुख प्राप्ति ही उनके जीवन में सहज वृत्ति (*instinct*) है। स्वरक्षा व जीवित रहने की इच्छा, की पूर्ति में सुख है। अतः जीवित रहने की इच्छा, जो पशु सुख का पर्याय है, कोशिकाओं का स्वाभाविक गुण हो सकता है किन्तु स्व-बलिदान की तरह अनूठी व दिव्य भावना का स्रोत भौतिक विकासशील कोशिकाओं का गुण नहीं हो सकता। यह विलक्षण गुण अत्यन्त परिमार्जित इच्छा शक्ति का परिणाम है जिसका आधार वैराग्य कही जाने वाली उच्चतम दिव्य भावना है।

गौतम बुद्ध द्वारा धन, राज्य, युवा पत्नी, पुत्रादि का एक झटके में परित्याग कोशिकाओं की सहज वृत्ति नहीं है जो केवल इन्द्रिय सुख के हेतु से ही जीवित रहती हैं। राग, आसक्ति तो सुख की प्राप्ति की प्रेरणा के फलस्वरूप सहज वृत्ति का परिणाम हो सकता है किन्तु वैराग्य धारण करना, कष्ट भोगना, तप करना, इच्छाओं का दमन करना, कामना रहित होना, इन्द्रियों को भोग से उपराम करना, भूख, प्यास, ताप, आतपादि को सहन करते हुए, समत्व भाव धारण करते हुए सुख त्याग हेतु अर्थात् दुःख प्राप्ति के हेतु से कोशिकाओं की सहज वृत्ति नहीं हो सकती। ये परम उदात्त भावनाएँ भौतिक द्रव्य (मेटर) से उद्भूत नहीं हैं वरन् ये आत्मतत्त्व के आन्तरिक स्वक्षेत्र की प्रेरणा के परिणामस्वरूप उद्भूत दिव्यता के प्रकाश की किरणें हैं।

मानव में उसके अन्तस् में गुप्त रूप से निहित यह विश्वास छिपा हुआ है कि वह अमर है, शाश्वत् है। आत्महत्या करने वाला यह जानता है कि वह दुःखों-कष्टों के हेतुभूत इस देह का ही परित्याग कर रहा है, अपने स्व को, अपने आप को दुःख से मुक्त करने के लिये। उस खुद के दुःखों से छुटकारे की भावना में चेतना की, स्व की शाश्वतता का संदेश है।

हजारों व्यक्ति अपने दुःख से त्रस्त हो आत्महत्या कर लेते हैं। यदि चेतना भौतिक पदार्थ से उद्भूत हो तो उसका लक्ष्य सुख प्राप्ति, स्व-जीवन रक्षा से अधिक नहीं हो सकता। मानव से इतर सभी प्राणी सुख के हेतु से जीते हैं। बलिदान की दिव्य भावनाएँ मानव में पाई जाती हैं हजारों उदाहरण प्रतिदिन इस दिव्य भावना की अभिव्यक्ति करते हैं। मानव केवल सुख के लिये नहीं जीता, मानव ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है, मानव दिव्यता का प्रकाश है।

अनेक बलिदानी वीरों ने अपनी देह को वस्त्र की तरह उतारकर फेंक दिया। बन्दा वैरागी के शरीर का माँस गरम सलाखों से दागा गया। उसके बच्चे के अंग-अंग काटकर उसके ऊपर डाले गये वह हँसता रहा। उसने कहा- तुम लोग मेरी आत्मा को नहीं मार सकते। खुदीराम बोस, रामप्रसाद बिस्मिल हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे पर झूल गये, मरने से पहले उन्होंने कहा कि हमारी आखिरी इच्छा यही है कि हम मरकर फिर जन्म धारण करें, फिर ब्रिटिश सत्ता से लड़ें तथा फिर फाँसी पर चढ़ें। ये उद्गार रासायनिक पदार्थ के नहीं हैं ये दिव्य आत्मा के दिव्य चक्षु का दर्शन है।

यह अंध विश्वास नहीं है कोई अंध विश्वास कोशिकाओं के जीवित रहने के हेतुभूत संघर्ष करने के स्वभाव को नहीं बदल सकता। यह दिव्यानुभूति है, यह आत्मानुभूति है, यह आत्मतत्त्व की स्वसत्ता की घोषणा है, यह विज्ञानमय परम तत्त्व का प्रकाश है, यह मुक्त आत्मा का वैभव है, यह दिव्य आत्मा का दिव्य संदेश है।

७. चेतन की भोक्तृत्व शक्ति का विवेचन —

सुख दुःख का अनुभव विचार नहीं है वरन् अनुभूति है। सुख दुःख तर्क के विषय नहीं हैं अर्थात् बुद्धि के विषय नहीं हैं। शरीर में दर्द की अनुभूति न मन का विषय है न बुद्धि का, यद्यपि इसका ग्रहण चेतना में मन के द्वारा होता है। गीता में कहा गया है–

पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतु रुच्यते। १३।२०

सुख दुःख भोगने में पुरुष (जीवात्मा) को निमित्त कहा गया है।

इसी प्रकार श्वेताश्वर उपनिषद (१।२) में चेतन जीवात्मा को सुख दुःख का भोक्ता कहा गया है तथा (१।८) में विषयों का भोक्ता होने से सुख दुःख का भोक्ता कहा गया है।[1] इसी प्रकार योग सूत्र में कहा गया है–

हेयं दुःखमनागतम्।

१. आत्माप्यनीशः सुख दुःख हेतोः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावात्।

न आया हुआ दुःख त्याज्य है अर्थात् यदि वह न आवे तो अच्छा है। उस दुःख का कारण द्रष्टा दृश्यं का संयोग है अतः

द्रष्टादृश्योः संयोगो हेय हेतु।

द्रष्टा दृश्य के संयोग को त्यागना होगा अर्थात् संयोग का परिणाम त्याज्य है, संयोग तो अनिवार्य है। इस प्रकार उपनिषद् एवं दर्शन की यह मान्यता है कि सुख-दुःख का भोक्ता चेतन द्रष्टा है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव का विषय भी है कि जब हमें सुखानुभूति होती है, चाहे सुख का कारण जो भी हो, हम उस अनुभव का वर्णन नहीं कर पाते। उदाहरण के लिये स्वादयुक्त भोजन में जो अनुभव होता है उसका हम केवल यह कहकर वर्णन करते हैं कि 'बहुत अच्छा लगा'। इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य देखने पर जो सुखानुभूति होती है उसका वर्णन भी इन्हीं शब्दों में किया जाता है कि बहुत अच्छा लगा। तात्पर्य यह है कि चाहे सुख के उद्गम का स्रोत जो भी हो– प्राकृतिक दृश्य देखने से, भोजन करने से, सुगंधित पुष्पों की गंध से, कर्णप्रिय वाद्य से या किसी प्रिय के मिलन से– सुखानुभूति एक-सी ही होती है जिसका वर्णन केवल हम यह कहकर कर पाते हैं कि अच्छा लगा, बहुत अच्छा लगा। यह अच्छा क्या है हम कह नहीं सकते, इसकी अभिव्यक्ति विचार में नहीं हो सकती। जिसकी अभिव्यक्ति विचार में नहीं हो सकती वह विचार नहीं है। जो विचार नहीं है वह मन का विषय नहीं है।

सुख दुःख भोग तर्क का भी विषय नहीं है अतः यह बुद्धि का भी विषय नहीं है। अतः निश्चित हुआ कि सुख दुःख का भोग न मन का विषय है, न बुद्धि का विषय है तो यह किसका विषय है? अस्तु हमें यह मानना ही पड़ता है कि सुख दुःख भोग या भोक्तृत्व मन, बुद्धि से पृथक् व परे चेतना की अनुभूति है इसी कारण अनुभूति वर्णनातीत है, मात्र अनुभव का विषय है।

८. ज्ञातृत्व लक्षण का विवेचन—

यदि हम प्रातःकाल बैठ जावें और सायंकाल तक विचार करते रहें तो हमारे मन में अनेक विचार उठेंगे। इन विचारों को हम ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते। ज्ञान और विचार में भेद है। ज्ञान वस्तु के स्वरूप अथवा वस्तुओं के मध्य संबंध की अनुभूति है।

ज्ञान किसी वस्तु या घटना के स्वरूप से तत्क्षण उत्पन्न हुआ वह अन्तर्बोध है जो हमें उस वस्तु या स्थिति का यथावत् प्रत्यक्षीकरण कराता है। इसके लिये न तो हमें मन में कोई तर्क-वितर्क करना पड़ता है न ही कुछ सोचना समझना पड़ता है।

अन्त: प्रत्यक्षीकरण हो जाने के अनन्तर उस बोध की अभिव्यक्ति मानस पटल पर विचार-रूप में होती है। ज्ञान क्षण के पूर्वार्द्ध में विशुद्ध भाव-रूप, विशुद्ध अनुभूति (प्रत्यक्षीकरण—*visualisation*) रूप रहता है क्षण के उत्तरार्द्ध में भाषामय विचार-रूप में प्रकट होता है इस प्रकार भाव की परिणति तत्काल (*instantaneously*) विचार में हो जाती है। किन्तु कभी-कभी हम अपने भाव को भाषा में अभिव्यक्त करने में असमर्थ हो जाते हैं। अतः ज्ञान भावमय है, विशुद्ध दर्शन है विचार उस दर्शन की अभिव्यक्ति है।

एक पुस्तक को देखकर हिन्दी भाषी, अंग्रेजी भाषी तथा उर्दू भाषी में से प्रत्येक यह कहता है— यह पुस्तक है, यह बुक है, यह किताब है। यह भेद अभिव्यक्ति में है किन्तु भाषा रूप में अभिव्यक्त करने के पूर्व ज्ञान विशुद्ध भाव-रूप होता है यह भाव है पुस्तक के स्वरूप का बोध, पुस्तक के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण। प्रत्यक्षीकरण में भेद नहीं है तीनों को एक ही वस्तु का बोध हुआ है। अनन्तर भिन्न-भिन्न भाषा भाषी उस प्रत्यक्ष बोध की परिणति भाषा रूप संकेत में करता है। यह भाषा रूप संकेत ही विचार का माध्यम है तथा अभिव्यक्ति का भी।

अतः विचार के माध्यम में भेद है। विचार भाषामय होता है, विचार का उद्भव भाषा रूप संकेत में मानस पटल पर होता है। भाषामय विचार रूप में उद्भव के पूर्व ज्ञान विशुद्ध भाव रूप, विशुद्ध अनुभूति रूप, विशुद्ध प्रत्यक्षीकरण रूप चेतन आत्मा में स्थित होता है ज्ञान की इस स्थिति को पश्यन्ति वाणी कहते हैं। तत्क्षण भाव की परिणति मानस पटल पर संकेत रूप में उभरती है इस संकेत का उद्भव विचार रूप में भाषा के माध्यम से होता है। जब ज्ञान भाषा में अभिव्यक्ति पाकर विचार रूप से मानस पर उभरता है तो इसे वाणी (ज्ञान) की मध्यमा अवस्था कहते हैं। जब यह विचार वाणी रूप में अभिव्यक्ति पाता है तो इसे वाणी की वैखरी अवस्था कहते हैं।[1] वेद के अनुसार वाणी, विद्या की देवी सरस्वती या ज्ञान का पर्याय है। वाणी ही मानव को एक विशिष्ट ईश्वरीय देन है जिससे वह ज्ञान उपलब्ध करने में समर्थ हुआ है, अन्य प्राणी इस शक्ति से वंचित रह गये हैं।

१. वेद के अनुसार वाणी अर्थात् ज्ञान के चार सोपान, अवस्थाएँ (*stages*) हैं परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी। परा ज्ञान की वह अवस्था है जब मानव में प्रत्यक्षीकरण होने के पूर्व ज्ञान सर्वव्यापी परा सत्ता, परमात्म सत्ता में अवस्थित होता है। अन्य तीन अवस्थाओं का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। ऋचा है— (१।१६४।४५)

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

इस कारण उनमें अभ्युदय करने का मूलाधार ही नहीं है, संस्कृति रूप अंकुर के प्रस्फुटित होने का साधन वाणी उनके पास नहीं है, इसीलिये कवि भर्तृहरि ने कहा है—

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते ।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।।

एक वाणी ने ही मानव को सम्यक् रूप से आभूषित किया है उसी वाणी की कृपा से मानव समस्त सभ्यता संस्कृति धारण कर रहा है, समस्त आभूषण नाशवान् हैं एक वाणी ही अक्षय भूषण है ।

यदि वाणी न होती तो क्या आज विज्ञान इतनी प्रगति कर पाता । मानव संकेतों से बात करता हुआ गूगों की तरह दो पैर के प्राणी की एक जाति होता ।

निश्चित हुआ कि ज्ञान की स्थिति विचार का रूप लेने के पूर्व भाव रूप में रहती है । चित्रकार में यह भाव रूप ज्ञान भाषा में व्यक्त न होकर चित्र रूप में अभिव्यक्ति पाता है । कवि में यह भाव रूप ज्ञान व्यवस्थित छन्दबद्ध भाषा(कविता) में अभिव्यक्ति पाता है । इसी प्रकार विचारक चाहे वह दार्शनिक हो, राजनीति शास्त्री हो, अर्थशास्त्री हो, वैज्ञानिक हो या अन्य किसी शास्त्र का ज्ञाता हो उसके विचारों में भाव (*idea*) ही प्रधान होता है उसी भाव के दर्शन एवं अभिव्यक्ति के कारण उसे महत्व प्राप्त होता है ।

कार्लमार्क्स के पूर्व किसी ने अर्थशास्त्र को इतना अधिक प्रभावित नहीं किया । उन्होंने अर्थ व्यवस्था का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया । कालिदास, सेक्सपियर आदि कवियों की कृतियों में जो भावुकता का दिग्दर्शन है उससे विद्वान् परिचित हैं । दो वस्तुओं के बीच गति या स्थिति (*motion or position*) का परस्पर संबंध समय पर निर्भर होता है । इस भाव का दर्शन सर्वप्रथम सर आईन्सटीन ने किया । उन्होंने समय को चतुर्थ आयाम कहा । इसके पूर्व के वैज्ञानिक इस भाव (सत्ता) के दर्शन न कर सके थे ।

यदि कहो कि भाव का उद्गम भाषा के पूर्व नहीं होता तो यह प्रत्यक्ष का विरोधी होगा क्योंकि भाषा का जितना ज्ञान कालिदास या सेक्सपियर को था उतना भाषा का ज्ञान संसार में अनेक विद्वानों को रहा है किन्तु भेद भाषा के ज्ञान में नहीं है भाव की प्रधानता में है जो उनकी कृति में दर्शनीय है । चित्रकार में तो विचार भाषा का रूप लेता ही नहीं । वह भाव-रूप विचार चित्र रूप में सीधे ही अभिव्यक्त होता है । इसी प्रकार दो वस्तुओं के मध्य गति या स्थिति संबंधी समय पर निर्भर सापेक्षता(*relativity*) के भाव का दर्शन सर आईन्सटीन ने किया ।

कवि में अथवा लेखक में यही महानता होती है कि उनके हृदय में अनेक गम्भीर भावों का उद्गम होता है जिनकी अभिव्यक्ति वे कविता या लेख के रूप में करते हैं। यदि कहो कि कवि, लेखक बिना भाव उठे ही कविता, लेख रच डालता है तो यह प्रत्यक्ष के विपरीत होगा। यदि भाषा में अभिव्यक्ति के पूर्व भावों का उद्गम न हो तो कविता, लेख में भावों की विद्यमानता को समझाया नहीं जा सकता। यदि किसी विशिष्ट भाषा में ही भाव उठे तब तो कवि, दार्शनिक, विचारक, वैज्ञानिक, भाषा के वशीभूत हो जावे, उसे अपने भाव को ठीक से समझकर परिमार्जित भाषा में व्यक्त करने की स्वतंत्रता ही न हो।

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि ज्ञान और विचार में भेद है। वस्तु स्थिति का सत्य दर्शन ज्ञान है जो भाव-रूप होता है विचार उस भाव को भाषा में अभिव्यक्ति है।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक विचार जो हमारे मानस पटल पर उद्भूत होता है ज्ञान को सन्निहित करने वाला हो। कोई विचार मात्र मानसिक विलास हो सकता है, कोई सुख दुःख संबंधी हो सकता है, कोई संकल्प संबंधी हो सकता है।

विचार भाव का माध्यम है, भाव का बाह्य कलेवर है। जब कोई व्यक्ति अपने भाव की अभिव्यक्ति करने में अपने आप को असमर्थ पाता है तो हम तुरन्त कहते हैं– 'क्या कहना चाहते हो, क्या मतलब है तुम्हारा' अर्थात् हम यह महसूस करते हैं कि भाव की अभिव्यक्ति नहीं हो पायी है। शिक्षकों की योग्यता के मापदण्ड में यह एक जांच का विन्दु (मुद्दा) होता है कि अभिव्यक्ति (*expression*) कैसी है अर्थात् भाव की, विषय-वस्तु के ज्ञान की जैसी स्थिति मन में है वैसी ही यथावत् अभिव्यक्ति हो रही है या नहीं।

इस प्रकार विचार और भाव में भेद है। ज्ञान भावमय है, ज्ञान प्रत्यक्षीकरण है, ज्ञान प्रत्यक्ष दर्शन है जो चिन्मय स्वरूप द्रष्टा का लक्षण है। विचार भाषामय है, संकेतमय है, यह मन पर भाव की अभिव्यक्ति है। मन करण है, मन में प्रत्यक्षीकरण नहीं है।

इस अध्याय के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि निश्चय करना (संकल्प, विकल्प), सुख दुःख की अनुभूति करना एवं ज्ञान की अनुभूति करना ऐसे चिन्मय भाव हैं जो मानस पटल पर निरन्तर प्रवाहित होने वाली विचारधारा के परे स्थित चेतन आत्म सत्ता की कलाओं की अभिव्यक्ति करते हैं।

क्या पशुओं में केवल सहज वृत्ति है—

यह कहा जाता है कि पशुओं में सहज वृत्ति (*instinct*) ही होती है। देह के विकास, रक्षा, जीवन के उद्देश्य से उनके अन्तस् में उठी आवश्यकताओं के अनुरूप ही उनका बाह्य व्यवहार संचालित होता है।

The outer behaviour of an animal is an expression of the reflex action of the internal working which is guided by the living cells and hence is in accordance with their wants. Thus the actions of a living being are an exact mirror image, an exact replica of the internal signals of the cells.

यह निरीक्षण, यह गवेषणा, यह दर्शन उपयुक्त नहीं है इसके विपरीत तथ्य पशुओं के व्यवहार में देखे जाते हैं। सिंह हिंसक प्राणी है, भूख लगने पर माँस खाना, प्राणी को खाना उसका स्वाभाविक कर्म है किन्तु सरकस में वह इसके विपरीत सरकस मास्टर का हाथ, सिर भी अपने मुंह में रखकर शान्त रहता हुआ अपने स्वभाव के विपरीत अपनी इच्छा शक्ति का प्रदर्शन करता है। यह इच्छा-शक्ति जीवित कोशिकाओं का स्वाभाविक गुण नहीं है। यदि पशु का व्यवहार कोशिकाओं की परावर्तित क्रिया मात्र हो तो सरकस में शेर सरकस मास्टर को चबा डाले।

जर्मनी में एक महाशय के पास एक कुत्ता था। वे महाशय सोमवार को ट्रेन पर बैठकर उस गाँव से बाहर काम पर जाते और शनिवार को शाम की ट्रेन से वापस आते थे। कुत्ता हर शनिवार उनको लेने जाता तथा ट्रेन को देख (*attend*) उनके साथ वापस आता था। एक बार मालिक की ट्रेन दुर्घटना में मृत्यु हो गयी। कुत्ता हर शनिवार को उसी ट्रेन पर मालिक को देखने ९ वर्ष तक जाता रहा। उस कुत्ते की उस गाँव के चौराहे पर जर्मनस् ने समाधि बनायी है।

यहाँ विचारणीय तथ्य यह है कि शनिवार का ज्ञान कुत्ते को कैसे होता था, क्या कुत्ता दिन गिनता था? उसे ट्रेन के समय का ज्ञान व विशिष्ट ट्रेन का परिचय कैसे होता था? दिन बिना गिने आज मालिक के आने का दिन है यह निश्चय कैसे होता था? ट्रेन देखकर मालिक को न पाकर वह वापस आता था।

इससे सिद्ध होता है कि पशु में सहज वृत्ति से कुछ अधिक (*faculty*) ज्ञान करने की शक्ति है। उसमें ज्ञान किस भाषा में होता है। भाषा के बिना विचार कैसे होता है, विचार का माध्यम क्या है अतः ज्ञान विचार नहीं है शुद्ध अनुभूति है।

राणा प्रताप के घोड़े के कर्तव्य जगत प्रसिद्ध हैं। हल्दीघाटी के युद्ध से हारकर जब राणा घायल अवस्था में चेतक से वापस पहाड़ी मार्ग से जा रहे थे तब कुछ शत्रु उनका पीछा कर रहे थे। राणा लगभग वेहोश थे। चेतक ने आसन्न संकट का अनुभव किया तथा २२ फुट लम्बे पहाड़ी नाले को, जो दो पहाड़ों के ऊपर अवस्थित है एक छलांग में पार कर अपने स्वामी की जीवन-रक्षा की। ऐसा करने में उसने अपने जीवन को संकट में ही नहीं डाला वरन् जीवन को दाँव पर लगाकर यह कार्य किया जो जीवित कोशिकाओं का स्वभाव नहीं हैं, जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वरक्षा, स्वविकास, स्वसुविधा की अन्तःप्रेरणा (*reflex action*) से संचालित है।

चेतक के व्यवहार से दो तथ्य प्रस्थापित होते हैं। प्रथम तो यह कि प्राणी में भी स्वामिभक्ति जैसा उदात्त भाव है, उसे संकट का ज्ञान होता है जो भाव-रूप में ही होता है तथा उसमें सहज वृत्ति से परे इच्छा शक्ति वर्तमान है जो उसके स्व-जीवन रक्षा की सहज वृत्ति से नहीं वरन् किसी उच्च दिव्य स्रोत (आत्मा) से उद्भूत होती है। इस प्रकार प्राणी में भी सहज वृत्ति के परे ज्ञान करने की अनुभूति है। पशुओं में ज्ञान भाषा के माध्यम से न तो उद्भूत ही होता है न ही अभिव्यक्ति पाता है वह भाव-रूप में उद्भूत होता और व्यवहार रूप में अभिव्यक्ति पाता है।

जब सेन्फ्रान्सिको में भूकंप आया था तब कुत्ते, बिल्ली व अन्य जानवर एक माह पूर्व से ही परेशान थे और वे शहर छोड़कर भाग रहे थे पर विकासवाद द्वारा सबसे अधिक विकसित कहे जाने वाले मानवों को भविष्य में होने वाली इस घटना का जरा भी आभास नहीं था। यह कैसे कहा जा सकता है कि मानव देह को निर्मित करने वाली कोशिकाएँ सबसे अधिक विकसित एवं जटिल हैं। यदि ऐसा ही है तो जानवरों को भविष्य में होने वाली असंभाव्य, अनहोनी घटना के होने के संकेत सूत्रों का आभास कैसे मिला जिसका कि सृष्टि के सिरमौर, सरताज कहे जाने वाले मानव को जरा भी अहसास न हो सका। तब यह मानना ही पड़ेगा कि जगनकर्त्ता ने जानवरों के शरीर को विलक्षण यन्त्रों से संयुक्त किया है जिससे उन्हें भविष्य के मौसम व प्राकृतिक घटनाओं के होने का पूर्वाभास हो जाता है।

यह प्रत्यक्ष एवं परीक्षित तथ्य सभी को स्वीकार्य है कि विशेष जाति के कुत्ते जासूसी के लिये पोलिस व खुफिया विभाग द्वारा प्रयुक्त होते हैं और वे कुत्ते केवल चोर, अपराधी के स्पर्श को सूंघकर केवल गंध के द्वारा ही चोर आदि अन्वेषित व्यक्ति तक पहुंचा देते हैं। कुत्तं में यह (*sense*) ज्ञान करने की शक्ति मानवी शक्ति से अधिक है इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। इसे विकासवाद के आधार पर नहीं समझाया जा सकता क्योंकि कुत्ता गंध सूंघने व आवाज (आहट) सुनने के विषय में मानव से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यदि अन्य पशु-पक्षी के अन्तर्विवेक, संवेदनाओं का विस्तृत विवेचन किया जावे तो अनेक प्रकार की संवेदना (*sense*) में वे मानव से श्रेष्ठतर सिद्ध होंगे।

अध्याय ११

चेतना का बुद्धि वृत्ति से भेद निरूपण

गत अध्याय में चेतन द्रष्टा के इन गुणों- साक्षी, चेता व निर्गुण की पूर्ण रूप मीमांसा की गयी है। उस अध्याय में विवेचना का विषय मन था। अब इस अध्याय में विवेचना का विषय बुद्धि वृत्ति होगी। इस प्रकार चेतना का यहाँ कुछ विशेष परिपेक्ष्य में पुनरावलोकन किया गया है तथा द्रष्टा चेतन की सत्ता को प्रस्थापित किया गया है। अध्याय में विषय पर प्रश्नोत्तर के माध्यम से प्रकाश डाला गया है।

१. क्या मन बुद्धि चेतना के विकल्प हैं—

प्रश्न - किसी चेतन को मानने की आवश्यकता नहीं है मन बुद्धि का संयुक्त रूप ही चेतन का विकल्प है या चेतना है। बुद्धि स्थिर रहती है मन प्रतिक्षण बदलता रहता है। ये दोनों मिलकर ज्ञान उपलब्धि बोध आदि चेतन के सभी धर्म पूरे कर लेते हैं अतः इनसे पृथक् चेतन मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि बुद्धि स्थिर तत्त्व है तो प्रत्यभिज्ञान भी बुद्धि को ही होता है। जिसको पहले देखा था उसी को अब देख रहा हूँ यह दो कालों के ज्ञान की संधि प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। यह स्थिर बुद्धि के रहने से संभव है।

समीक्षा– बुद्धि स्थिर रहती है यह सिद्ध नहीं है तथा यह भी निश्चय करना है कि प्रत्यभिज्ञा किसको होती है। बुद्धि अचेतन है, करण है, बुद्धि ज्ञान का साधन है, ज्ञान होता है चेतन को। ज्ञान, उपलब्धि, बोध प्रत्यभिज्ञान (स्मृति) चेतन के धर्म हैं वह चेतन ही पूर्व ज्ञात पदार्थ को पहचानता है। चेतन के धर्म बुद्धि पर प्रतिरोपित करना उचित नहीं है।

स्वप्नावस्था में बुद्धि करण का लोप हो जाने पर भी प्रत्यभिज्ञान बना रहता है अर्थात् स्वप्न में चेतन, भाई बन्धु मित्रों सभी को पहचानता है अतः स्मृति बुद्धि का गुण नहीं है।

२. अन्तःकरण की व्याख्या—

मन, बुद्धि की पृथक् सत्ता का निरूपण इस अनुच्छेद का विषय है। इस चर्चा के तारतम्य में कभी मन, कभी चित्त का प्रयोग किया गया है क्या ये एक-ही द्रव्य हैं अथवा पृथक् २ हैं। इनमें क्या भेद है यह चर्चा के पूर्व ही समझ लेना आवश्यक है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चार पृथक्-पृथक् माने गये हैं। हिन्दू दर्शन में इन्हें अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं किन्तु योग दर्शन की शब्दावलि में प्रयुक्त चित्त शब्द अन्तःकरण का वाचक है अर्थात् चारों की सम्मिलित शक्ति का द्योतक है। चेतन का अपने आप के अस्तित्व का भान सर्वप्रथम अनुभूति है, चेतन मन बुद्धि सहित अपने आप को 'मैं' कहता है। चेतन द्वारा अपनी इस संयुक्त अभिव्यक्ति को 'अहंकार' वृत्ति (अवस्था) का नाम दिया गया है। इस प्रकार अहंकार एक दृष्टि-कोण मात्र है, भाव मात्र है पृथक् सत्ता नहीं है। मन वह सत्ता है जो एक समय में एक ही विचार को उद्भूत करता है पर इसका यह लक्षण है कि यह प्रति क्षण क्रियाशील रहता है, कभी शान्त नहीं रहता। एक विचार के बाद दूसरे विचार को प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार विचारों का तारतम्य बना रहता है।

बुद्धि वह सत्ता है जो तर्क, वितर्क, विश्लेषण और समन्वय करती है। यह किसी विषय के कई पहलुओं को प्रस्तुत करती है। जाग्रत अवस्था में बुद्धि के द्वारा ही चेतन, मन को नियंत्रित करता है।

प्रश्न— इन चारों के सम्मिलित रूप से चेतन के सभी कार्यों की पूर्ति व व्याख्या हो जाती है अतः इनसे पृथक् चेतन के अस्तित्व की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

समीक्षा— ये चारों मिलकर भी चेतन द्रष्टा के स्थानापन्न नहीं हैं। जब चेतन अपने आप को मन बुद्धि चित्त से संयुक्त हुआ देखता है तथा अपने इस संयुक्त रूप को 'मैं' कहता है तो उस भाव को अहंकार कहते हैं। इस प्रकार अहंकार तो एक दृष्टिकोण मात्र है पृथक् सत्ता नहीं है। मन तथा बुद्धि ये दो पृथक् भौतिक सत्ताएं हैं। मन का कार्य है निरन्तर विचार करना किन्तु यह एक समय में एक विचार ही कर सकता है। बुद्धि का काम है तर्क वितर्क करना तथा मन को नियंत्रित करना। स्वप्नावस्था में बुद्धि वृत्ति का कार्य बन्द हो जाता है तब मन अनियंत्रित हो जाता है और वह अपने चित्त-रूप कोष में भटकता हुआ अव्यवस्थित विषयों के चित्र खोलता व प्रस्तुत करता है।

उस स्वप्न का द्रष्टा, मन-चित्त के संयुक्त रूप से पृथक् है। मन-चित्त पृथक्-पृथक् और संयुक्त रूप से भी केवल चित्रमय हैं, केवल दृश्य हैं। इस चित्रमय रील का द्रष्टा उस चित्रमय रील से पृथक् है। स्वप्नावस्था में तर्क शक्ति का अभाव देखा जाता है। द्रष्टा में इच्छा शक्ति है जिसका स्वप्नावस्था में पूर्ण अभाव देखा जाता है। मन द्रष्टा की इच्छा से पूर्ण रूप से स्वतंत्र हुआ विचरण करता है व मन अनियंत्रित हो चित्त रूपी कोष में पूर्व संचित चित्रों में भटकता हुआ अव्यवस्थित चित्रमय रील प्रस्तुत करता है। स्पष्ट है कि स्वप्न में इच्छा शक्ति का अभाव यह सिद्ध करता है कि मन-चित्त दोनों मिलकर भी द्रष्टा के स्वरूप से पृथक् हैं क्योंकि स्वप्न में मन की

सत्ता है किन्तु इच्छा शक्ति का अभाव है अतः यह सिद्ध होता है कि इच्छा शक्ति मन का गुण नहीं है।

स्वप्नावस्था में तर्क वितर्क का अभाव होता है अर्थात् बुद्धि वृत्ति का कार्य बन्द हो जाता है किन्तु चेतन क्रिया चलती रहती है तथा स्वप्न का द्रष्टा चेतन मौजूद रहता है। जाग्रत अवस्था आने पर कहता है मैंने स्वप्न देखा अतः द्रष्टा बुद्धि से पृथक् है इससे यह निश्चय होता है कि तर्क वितर्क करने वाली बुद्धि वृत्ति द्रष्टा चेतन के स्वरूप से पृथक् है। बुद्धि मन से श्रेष्ठ है तथा वह मन को नियंत्रित करती है। बुद्धि द्रष्टा से पृथक् है तो मन जो बुद्धि से निम्न श्रेणी का है वह तो द्रष्टा से पृथक् होगा ही।

सुषुप्ति अवस्था में, उसी प्रकार मन की निरुद्ध (विचार शून्य = भावातीत), समाधि अवस्था में मन, बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है किन्तु द्रष्टा अपनी सत्ता का अनुभव करता हुआ स्थित होता है तथा समाधि सुषुप्ति से जाग्रत अवस्था में आने पर समाधि सुषुप्ति में हुई सुखानुभूति का अनुभव व्यक्त करता है। समाधि सुषुप्ति में जिसकी सत्ता रहती है वही 'मैं हूं' वही मेरा चेतन स्वरूप है क्योंकि यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि समाधि सुषुप्ति में 'मैं था' मैंने अनुभव किया अतः द्रष्टा, मन बुद्धि से पृथक् व परे है।

२. स्वप्नावस्था में चेतन की सत्ता—

प्रश्न— स्वप्नावस्था में इच्छा शक्ति का अभाव रहता है। इच्छा शक्ति चेतन का गुण माना गया है तो इसका अर्थ यह है कि स्वप्नावस्था में चेतन का अभाव रहता है तथा तर्क शक्ति बुद्धि का भी अभाव रहता है तो यह क्यों न माना जाय कि बुद्धि ही चेतन शक्ति है, बुद्धि से भिन्न कोई चेतन नहीं है।

समीक्षा— चेतन द्रष्टा के गुण हैं ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व एवं कर्तृत्व। स्वप्नावस्था में इन तीनों गुणों की विद्यमानता द्रष्टा की सत्ता को प्रस्थापित करती है। स्वप्नावस्था में ज्ञान करने का लक्षण रहता है। ज्ञान उसे कहते हैं जो यथावत् हो अर्थात् जैसी घटना हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान है। स्वप्न में स्वप्न के द्रष्टा में ज्ञान करने का यह लक्षण पाया जाता है। साथ ही स्वप्न के द्रष्टा को सुख-दुःख का भोग करते हुए भी देखा जाता है। अतः द्रष्टा ही चेतन सत्ता है बुद्धि चेतन सत्ता नहीं है। बुद्धि चेतन का करण है, मात्र साधन है जिसका स्वप्नावस्था में अभाव द्रष्टा से भेद परक है, जागने के पश्चात् भी यह कहा जाता है 'मैंने स्वप्न देखा'। इस संबोधन में 'मैं' का प्रयोग चेतन सत्ता के लिये होता है।

बुद्धि वृत्ति के अभाव में चेतन अपनी इच्छा शक्ति का प्रयोग नहीं करता क्योंकि उसे अपने साधनों का ज्ञान है अतः इच्छा शक्ति का प्रयोग तर्क शक्ति के द्वारा स्थिति का पूर्ण विश्लेषण करके ही करता है उसके अभाव में नहीं करता।

जब कभी उसको स्वप्न रुचिकर नहीं लगता तब वह अपने निश्चय से स्वप्न को तोड़कर जाग जाता है। ऐसा तब होता है जब कोई भयानक अप्रिय घटना देखता है। इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि द्रष्टा चेतन अपने स्व-गुण इच्छा शक्ति का अधिष्ठाता है जिसके प्रयोग करने का वह अपना अधिकार सुरक्षित रखता है। इस प्रकार स्वप्नावस्था में भी चेतन अपने तीनों गुणों सहित वर्तमान रहता है।

द्रष्टा ही प्रमुख चेतन सत्ता है। बुद्धि गौण है स्वप्नावस्था में बुद्धि के अभाव में सुख दुःख का भान होता है। सुख भोग, सुख प्राप्ति चेतन का जीवन में प्रमुख लक्ष्य है एवं समस्त कार्यों का हेतु है। बुद्धि को सुख दुःख के भोग से सम्बन्धित न होना बुद्धि वृत्ति के गौणत्व को प्रस्थापित करता है।

जैसा कि कहा गया है सुषुप्ति अवस्था में तथा समाधि अवस्था में सभी प्रकार के विचारों का अभाव हो जाता है इन अवस्थाओं में द्रष्टा का भाव तथा मन बुद्धि का अभाव देखा गया है अतः मन-बुद्धि पृथक्-पृथक् या संयुक्त रूप से भी द्रष्टा चेतन के स्थानापन्न नहीं हैं।

मन, बुद्धि, चित्त उसी प्रकार करण हैं जैसे रेडियो में वाल्व होते हैं। किसी वाल्व के खराब हो जाने या न रहने से रेडियो की कार्य क्षमता पर प्रभाव पड़ता है वह दोषपूर्ण हो जाती है। सभी वाल्वों का बिलकुल ठीक रहना आवश्यक है किन्तु सब कुछ ठीक रहते हुए भी यदि बिजली न हो तो रेडियो कार्य नहीं करता। उसी प्रकार इस देह में चेतना ही बिजली है जिसकी सत्ता में सब काम होता है। स्वप्नावस्था में बुद्धि रूपी वाल्व बन्द हो जाता है सुषुप्ति में मन बुद्धि दोनों।

४. स्वप्न सुषुप्ति में चेतन की इच्छा शक्ति की सत्ता संबंधी विवेचना —

प्रश्न— चेतन का गुण इच्छा शक्ति बताया गया है। यदि स्वप्न में भी चेतन वर्तमान रहता है तो वह अपनी इच्छानुसार स्वप्न क्यों नहीं देखता, परवश हुआ स्वप्न क्यों देखता है ?

समीक्षा— चेतन द्रष्टा को रात्रि के समय यह ज्ञान एवं चेतना रहती है कि उसकी साधनभूत इन्द्रियाँ मन-बुद्धि थक गयी हैं तथा उन्हें आराम की आवश्यकता है। उन्हें आराम देने का निश्चय करके वह उन्हें कार्यमुक्त कर उनसे विरत होता

हैं। उसकी इच्छा शक्ति से प्रेरित हो मन बुद्धि शान्त हो जाते हैं किन्तु स्वप्नावस्था में मन शान्त नहीं हो पाता, इच्छा शक्ति उससे पूर्व से ही उपराम हुई उसके कार्य में योगदान नहीं देती वरन् मात्र द्रष्टा बनी उसे शान्त होने के लिये छोड़ देती है तथा इच्छा शक्ति चाहती है कि मन शान्त हो जावे इसी कारण स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था आ जाती है। इस प्रकार चेतन स्वप्नावस्था में इच्छा शक्ति का प्रयोग केवल मन को शान्त करने के लिये करता है अन्यथा नहीं करता क्योंकि पूर्व निर्धारित निश्चयानुसार उसने मन बुद्धि को आराम करने का निर्देश दिया था। उसकी सतत इच्छा उसी निर्देशानुसार होती है।

प्रश्न– चेतन को स्वप्नावस्था में अपनी इच्छा का ज्ञान रहता है इसमें क्या प्रमाण है।

समीक्षा– चेतन को अपनी इच्छा का ज्ञान रहता है। रात्रि में सोने के पूर्व यदि यह इच्छा करके सोया जावे कि प्रातः अमुक समय पर जागना है तो ठीक उसी समय पर चेतना, मन बुद्धि को जागने के लिये सचेत कर देती है। इस प्रकार चेतन अपनी इच्छा शक्ति का सुषुप्ति अवस्था में भी प्रयोग करता है तथा पूर्व किये निश्चय को सुषुप्ति में कार्यान्वित करता है। यह सुषुप्ति में भी उसके अस्तित्व का अन्य प्रमाण है।

प्रश्न– किन्तु सुषुप्ति अवस्था में चेतन सत्ता के अन्य लक्षणों भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व की प्रतीति नहीं होती अतः सुषुप्ति में चेतन की सत्ता संदिग्ध है।

समीक्षा– सुषुप्ति अवस्था में कोई विषय न होने से ज्ञाता का अभाव नहीं है किन्तु विषय का अभाव है जैसे चिट्ठीरसा मेरे घर आज नहीं आया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चिट्ठीरसा कार्य पर आज उपस्थित नहीं है, मेरे नाम कोई पत्र न होने से वह मेरे यहाँ नहीं आया। इसी प्रकार ग्राहक के अभाव में दूकानदार शान्त हो बैठ जाता है इसका यह अर्थ नहीं है कि दूकानदार कार्यरत नहीं है जब ग्राहक आवेगा तब संलग्न हो जावेगा। इसी प्रकार चेतना विद्यमान है किन्तु विषय के अभाव में सुख दुःख के भोग का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। किन्तु यह बताकर कि कोई स्वप्न नहीं आया, द्रष्टा ने ज्ञातृत्व लक्षण का प्रयोग किया है तथा पूर्व अनुच्छेद में यह बताया गया है कि द्रष्टा अपने संकल्प का भी प्रयोग स्वप्नावस्था व सुषुप्ति अवस्था में करता है। इस प्रकार द्रष्टा की सत्ता जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में प्रस्थापित होती है।

प्रश्न– द्रष्टा से इतर अन्तःकरण या मन का मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि द्रष्टा ही सभी मानसिक क्रिया करता है।

उत्तर–नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि संगोऽन्यतर नियमो वाऽन्यथा। वे.द.२।३।३२

यदि अन्तःकरण की सत्ता न माने तो विषय के अनुभव की उपलब्धि नित्य होगी अथवा होगी ही नहीं इस कारण आत्मा या इन्द्रियों में से एक की शक्ति प्रतिबन्धित माननी पड़ेगी।

आत्मा अविकारी है अतः आत्मा की शक्ति नित्य एक-सी रहती है अतः प्रतिबन्धित नहीं हो सकती। इन्द्रियों की शक्ति प्रतिबन्धित नहीं है विषयों को प्रकाशित करना उनका काम है जिसे वे सदैव एक-सा प्रकाशित करती रहती हैं। आत्मा इन्द्रिय दोनों की विद्यमानता से विषय का प्रकाश नित्य होता रहेगा। यदि इन्द्रियों की शक्ति को प्रतिबन्धित मानें तो यह नहीं मान सकते कि वे कभी तो विषय का प्रकाश करती हैं कभी नहीं करतीं, जिसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता स्वच्छन्दता के अतिरिक्त। किन्तु इन्द्रियाँ अचेतन होने से स्वच्छन्द नहीं हैं अतः यह मानना पड़ेगा कि वे विषय का प्रकाश करती ही नहीं जो प्रत्यक्ष के प्रतिकूल है। इस प्रकार मन की सत्ता का होना अनिवार्य है। जिसके संलग्न होने से ज्ञान और संलग्न न होने से ज्ञान नहीं होता वह मन है।

अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्र मना अभूवं ना श्रोतं।

मन के अन्यत्र होने से नहीं देखा, मन के अन्यत्र होने से नहीं सुना (बृह. १।५।३)

५. चेतन की स्वरूप व्याख्या—

पूर्व अनुच्छेदों की मीमांसा से यह निश्चय हुआ कि ज्ञातृत्व–ज्ञान करना; भोक्तृत्व–सुख-दुखानुभूति एवं कर्तृत्व–संकल्प विकल्प ये तीनों लक्षण मन या बुद्धि के नहीं हैं ये तीन लक्षण उस सत्ता के हैं जिसे चेतन द्रष्टा या जीवात्मा कहते हैं। चेतन के इन लक्षणों पर न्याय दर्शन के सूत्र के आधार पर विचार करना उपादेय होगा। सूत्र है—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

न्याय सूत्र के द्वारा दर्शाये गये जीवात्मा के लक्षण उपरोक्त तीन लक्षणों के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार चेतन में तीन मौलिक शक्तियाँ हैं।

ज्ञातृत्व– ज्ञान करने की शक्ति को ज्ञातृत्व कहा जाता है। चेतन को ज्ञान संचित करने के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हैं। चेतन किसी प्रमेय (*object*), वस्तु के संबंध में इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सूचना के आधार पर उस वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करता है। इन्द्रिय द्वारा प्रदत्त सूचना निर्भ्रम हो इस हेतु उस उपलब्ध सूचना का मानसिक विश्लेषण करता है, तर्क और युक्ति से उन सूचनाओं के विभिन्न पक्षों (पहलुओं) का सूक्ष्म विवेचन करता है। तदनंतर उस वस्तु के संबंध में अपनी

धारणा, अपना मत स्थिर करता है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप की अनुभूति होती है जिसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान वस्तु के स्वरूप की अनुभूति है चाहे वह वस्तु द्रव्य हो या वस्तुओं के मध्य कोई संबंध हों।

मानव ने ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है। पदार्थ का ज्ञान विज्ञान कहलाता है शेष ज्ञान वस्तुओं के बीच संबंध है। जैसे मानवों के बीच का संबंध समाज शास्त्र या राजनीति शास्त्र है अथवा वस्तुओं के बीच विनिमय अर्थ शास्त्र है।

कर्तृत्व – द्रष्टा जिस विषय में रुचि लेता है उसे प्राप्त करने का विचार करता है इसे इच्छा कहते हैं। यह इच्छा प्रेरक शक्ति का कार्य करती है यह इच्छा बलवती होने पर संकल्प (*will to do*) का रूप ले लेती है। संकल्प में परिणति होने पर मानव उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रयास के पूर्व ... जो मानसिक निश्चय करता है वही चेतन की संकल्प या कर्तृत्व शक्ति कही जाती है।

मानसिक संकल्प के अभाव में कोई दैहिक कर्म नहीं हो सकता। हत्या के अभियोग में विद्वान् न्यायाधीश सदैव यह निश्चित करते हैं कि अभियुक्त की मंसा हत्या करने की थी, या नहीं थी। मंसा के आधार पर ही अभियुक्त का दण्ड निश्चित किया जाता है। हत्या करने के पूर्व निश्चय के प्रकाश में आने पर ही अभियुक्त को दोषी माना जाता है अन्यथा नहीं माना जाता। चेतन की भूमिका निश्चय करना है शेष भूमिका का क्रियान्वय देह द्वारा होता है। किसी मानसिक विचार की कार्य रूप में परिणति होने के पूर्व संकल्प में परिणति आवश्यक है केवल मानसिक विचार किसी कार्य को करने की प्रेरक शक्ति नहीं होता। मानसिक विचार, विचार ही रहेगा, कल्पना तक सीमित रहेगा जब तक विचार संकल्प का रूप न ले ले, निश्चय में परिवर्तित न हो जावे।

जिस प्रकार रुचिकर द्रव्य (विषय) को प्राप्त करने का निश्चय चेतन करता है उसी प्रकार अरुचिकर को न पाने का, अरुचिकर से बचने का, दूर रहने का निश्चय भी करता है। किसी द्रव्य (विषय) से अरुचि को द्वेष वृत्ति से वर्णित किया जाता है।

इस प्रकार इच्छा प्राप्त करने की प्रेरक शक्ति है द्वेष प्राप्त न करने की प्रेरक शक्ति है जब इच्छा या द्वेष बलवती हो जाते हैं तब वह इच्छा या द्वेष संकल्प या विकल्प का रूप धारण कर लेते हैं। किसी कार्य को करने का निश्चय संकल्प के रूप में तथा किसी कार्य को न करने का निश्चय विकल्प या

अनिर्णय के रूप में उभरता है। शारीरिक क्रिया मानसिक क्रिया के पश्चात् ही होती है। शारीरिक क्रिया मानसिक क्रिया रूप निश्चय की, संकल्प की अभिव्यक्ति मात्र है।अतः संकल्प का महत्व सर्वोपरि है। विचार की इस वृत्ति को कर्तृत्व के अन्तर्गत व्याख्यात किया गया। इस कर्तृत्व की प्रेरक शक्तियां इच्छा एवं द्वेष हैं इस प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न की (अर्थात् निश्चय की) प्रेरक शक्तियां हैं सूत्र प्रोक्त इच्छा द्वेष, प्रयत्न ये तीनों मिलकर ही निश्चय को जन्म देते हैं। इच्छा-द्वेष, प्रयत्न की उप वृत्तियाँ हैं।

भोक्तृत्व – सुख और दुःख चेतन की दो अनुभूतियां हैं जिन विषयों में चेतन को सुखानुभूति होती है उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करता है। इस इच्छा के वलवती हो जाने से वह इच्छा निश्चय का रूप ले लेती है। इसी प्रकार दुखानुभूति वाले विषयों के प्रति द्वेष, न पाने की प्रवृत्ति होती है।

सुख, दुःख शरीर के धर्म नहीं हैं शरीर इनको भोगने का माध्यम है। जो व्यक्ति वेहोश हो जाता है उसके शरीर पर आघात करने से, उसके शरीर को जलाने से भी उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। इसीलिये डाक्टर लोग शल्य क्रिया (आपरेशन) करते समय रोगी को वेहोश कर देते हैं फिर चाहे उसका लिवर, चाहे किड्नी या हृदय कोई भी निकाले जाते हैं व उन पर शल्य क्रिया की जाती है रोगी को कोई कष्ट नहीं होता। इस प्रकार सुख या दुःख का भोक्ता चेतन है वेहोशी की अवस्था में मन तथा बुद्धि की कार्य शक्ति को स्थगित कर दिया जाता है।तब चेतन का देह के व्यापार से संपर्क टूट जाता है। इस प्रकार सुख दुःख की अनुभूति करने वाला चेतन है।

६. शिशु में चेतन के लक्षणों की परीक्षा –

प्रश्न – आज के उत्पन्न हुए शिशु में इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान आदि कुछ भी अभिव्यक्त नहीं होते अतः शिशु जैसे-जैसे बड़ा होता है अनुभव के द्वारा ही इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुख ज्ञान आदि को सीखता तथा ग्रहण करता है अतः ये चेतन के मौलिक गुण नहीं हैं ये अभ्यास के द्वारा अंगीकृत किये हुए (*adopted faculties*) गुण हैं। इस प्रकार शिशु में चेतन का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

समीक्षा – शिशु में इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञान ये सभी मौलिक गुण विद्यमान हैं ये अभ्यास से अंगीकृत किये हुए गुण नहीं हैं। इस विषय का विवेचन ऋचा द्वारा किया जाता है।

आत्मा देवानाम् भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एष।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम् ॥

(एष देवानाम् देव आत्मा) यह इन्द्रियों का प्रकाशक देव आत्मा (भुवनस्य गर्भः) उत्पन्न देह के अन्तस् में छिपा हुआ (यथावशं चरति) अपने स्वरूप के अनुसार स्वभावानुसार चलता है कार्य करता है उसका उद्घोष सुनाई देता है रूप दर्शनीय नहीं है। ऋ, १०।१६८

आज के जन्मे शिशु में अहं भाव अत्यन्त विशुद्ध रूप में है उसे अपने अस्तित्व का भान है उसे 'मैं हूँ' की अनुभूति है उसके (मैं) अहं का भाव केवल विशुद्ध चेतना को परिलक्षित करता है, केवल चेतन को संबोधित करता है क्योंकि वह अभी मन बुद्धि से संयुक्त नहीं हुआ है। उसे अपनी देह के होने का ज्ञान नहीं है, उसे जगत के ज्ञान होने का तो प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार अहं की प्रथम मौलिक अनुभूति स्वभाविक रूप से विद्यमान है जो द्रष्टा चेतन की न केवल सत्ता को सिद्ध करता है वरन् यह भी प्रस्थापित करता है कि जगत की अनुभूति अभी नहीं हुई है। जगत की अनुभूति द्वितीयक (*secondary*) है जगत की अनुभूति अभ्यास से अंगीकृत की गयी है जगत की अनुभूति द्रष्टा की अपनी स्वानुभूति पर आश्रित है।

द्रष्टा अभी अपने आसन से उठा है उसने ज्ञान करना आरंभ किया है उसे अभी केवल मैं का साक्षात्कार हुआ है उसने केवल 'मैं' को जाना है तथा वह अहंकार की वृत्ति द्वारा इन्द्रियों तक पहुंचने का प्रयत्न कर रहा है। मन तथा बुद्धि करणों, साधनों के उपयोग का अनुभव उसे नहीं है। यह कहना नितान्त भ्रान्ति है कि शिशु में ज्ञान इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख आदि लक्षण वर्तमान नहीं हैं तथा अभ्यास से अंगीकृत हैं।

जन्म के तुरन्त बाद शिशु हर्ष, भय, शोक से आसक्त हुआ देखा जाता है। शिशु जन्म पर बन्दूक पटाखे की आवाज से शिशु को भय से चौंकता हुआ देखा गया है जन्मते ही शिशु रोता है जो उसके शोक की अभिव्यक्ति का परिचायक है। इस जन्म में शिशु को पूर्वाभ्यास का पूर्ण अभाव है। अतः अभ्यास के होने का पक्ष माननीय नहीं है।

शिशु को भूख क्या चीज है इसका पूर्वाभ्यास तथा पूर्व अनुभव नहीं है। उसे भूख क्या चीज है इसका ज्ञान भी नहीं है उसे तो कुछ बेचैनी की अनुभूति होती है देह में शक्ति की कमी की अनुभूति होती है। जो चीज जैसी हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान करने का लक्षण है।

शरीर में शक्ति की कमी है इस स्थिति को इसी रूप में यथावत् जानना शिशु के ज्ञान करने के गुण की अभिव्यक्ति है। तदनन्तर इस स्थिति से वह मुक्त होना

चाहता है अर्थात् उस स्थिति के बने रहने के प्रति अपनी अनिच्छा व्यक्त करते हुए रोता है। अनिच्छा को द्वेष कहते हैं अतः शिशु में द्वेष करने का गुण है अर्थात् किसी चीज की इच्छा न करने का मौलिक गुण है यह इच्छा शक्ति का प्रदर्शन है इसके लिये शिशु यथावत् रोकर प्रयत्न करता है दूध मिल जाने पर पुनः अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति हर्ष के द्वारा करता है कि अब वह असुखकारी स्थिति न रही।

इस प्रकार अभी जन्मे हुए शिशु में ज्ञान करने की शक्ति, सुख दुःख अनुभव करने की शक्ति तथा इच्छा करने की शक्ति अर्थात् संकल्प करने की शक्ति विद्यमान है। ये चेतन के स्वगुण हैं अभ्यास करने का अवसर शिशु को प्राप्त नहीं हुआ है।

७. बुद्धि चेतनवत् कार्य करती है पुरुष असंग है — मत की समीक्षा —

प्रश्न — चेतन आत्मा असंग है चेतन के सान्निध्य से बुद्धि चेतनवत् वर्तती है इस विषय में यह तर्क दिया जाता है —

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

असंग रहते हुए (चेतन) की बुद्धि (दृक्) द्रष्टा रूप में परिणत होकर जो कार्य करती है वही चेतन का भोग कहा जाता है। जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र अपने आप प्रतिबिंबित हो जाता है वैसे ही बुद्धि अपने धर्म सहित असंग निर्मल आत्मा में प्रतिबिंबित हो जाती है।

जैसे उपाधि लाल-कमल स्फटिक (स्वेत) मणि को अपनी मौजूदगी से लाल बना देती है वैसे ही अविकारी चेतन अपनी सान्निध्य से मन को चेतन बना देता है। चेतन असंग रहता है चेतनवत् होकर मन ही कर्ता भोक्ता है, आत्मा नहीं।

समीक्षा — इस प्रस्तुतीकरण में महान् दोष है। चेतनवत् शब्द जाल है यह बताना पड़ेगा कि बुद्धि चेतन हो जाती है अथवा जड़ रहती है। यदि जड़ रहकर साधन मात्र रहती है तो प्रश्न नहीं उठता किन्तु यदि बुद्धि चेतन हो जाती है तो एक देह में दो चेतन हो जावेंगे। तब यह मानना पड़ेगा कि चेतना जिस आत्मा का धर्म है ज्ञान करना उस आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि आपके कथनानुसार ज्ञान करना तब बुद्धि का धर्म हो गया। बुद्धि या मन को ही यदि ज्ञान हो जाता है तो चेतन क्या करता है यदि कहो कुछ नहीं करता तो यह मानना पड़ेगा कि बुद्धि चेतनवत् काम करती है चेतन जड़वत् काम करता है। यदि कहो कि पुरुष चेतना देता है बुद्धि बोध करती है तो यह तो चेतन से चेतन की उत्पत्ति का प्रसंग है तब यह बताना पड़ेगा कि दो के होने में हेतु क्या है। दो चेतन हो जाते हैं उसे सिद्ध कैसे करोगे।

प्रश्न – 'अग्नि लोहवत्' चेतन हो जाता है जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहा अग्नि वर्ण हो जाता है पर अग्नि से पृथक् करने पर फिर पूर्ववत् लोहा हो जाता है इसी प्रकार बुद्धि आत्मा के सान्निध्य से चेतन हो जाती है।

समीक्षा – उपरोक्त उदाहरण आपके मत का साधक नहीं है वरन् बाधक है। अग्नि व लोहा दोनों जड़ भौतिक पदार्थ हैं तथा ताप भौतिक गुण है। यह उदाहरण दो जड़ों में जड़त्व गुण के संचार का है चेतना से जड़ में या जड़ से चेतना में गुण आदान प्रदान का उदाहरण नहीं है। अतः दोनों को चेतन मानने से एक चेतन का लोप मानना पड़ेगा अथवा एक को जड़ और एक को चेतन मानने से चेतन का गुण जड़ में प्रतिरोपित नहीं हो सकता यह मानना पड़ेगा। अतः मन बुद्धि चेतना के भौतिक साधन मात्र हैं ज्ञान करने वाला साधक चेतन ही है।

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥

प्रश्न – दो चेतन के मानने की आश्यकता नहीं हैं तब हम यह मान सकते हैं कि बुद्धेरवस्थितायां यथा विषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति।

बुद्धि के स्थिर रहते हुए भीं विषयानुसार वृत्तियाँ (विषयों का ज्ञान) उसमें से निकलती रहती हैं तथा वृत्ति से वृत्तिमान (ज्ञाता) भिन्न नहीं है वही दृश्य है वही द्रष्टा है उसीमें से विषयानुसार ज्ञान उत्पन्न होते व लय होते रहते हैं। बुद्धि से भिन्न किसी अन्य चेतन की सत्ता माननें की आवश्यकता नहीं हैं, यही मत आधुनिक प्राणि शास्त्र का है कि बुद्धि विषयाकार होकर उस ज्ञान को ग्रहण करती हैं।

समीक्षा – वृत्ति तथा वृत्तिमान को अभिन्न मानोगे तो बुद्धि (वृत्तिमान) के स्थिर रहते हुए वृत्ति (विषय ज्ञान) भी स्थिर रहेगी। इस प्रकार जब वृत्तियां स्थिर होंगी तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उपलब्धि होगी। किन्तु यह प्रत्यक्ष का विरोधी है। मन में एक समय में एक ही ज्ञान होता है। अन्य हेतु यह हैं तथा अन्य हेतु भी है।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाश प्रसङ्ग। न्या. ३।२।५
अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इति (भा.)

वर्तमान तथा अतीत का ज्ञान नष्ट होता रहता है। यह नष्ट होने वाला ज्ञान भी एक वृत्ति है जो वृत्तिमान से अभिन्न है अतः वृत्ति (ज्ञान) के नाश के साथ वृत्तिमान (ज्ञाता) भी नष्ट हो जावेगा। निरन्तर परिवर्तन शील ज्ञान के साथ ज्ञाता भी निरन्तर परिवर्तन होगा तब अतीत की स्मृति का आधार क्या होगा।

तथा यह भी हेतु है कि –

'क्रम वृत्तित्वदयुगपद ग्रहणम्'

बाह्य इन्द्रियों का मन से संबंध क्रम पूर्वक होता है। जिस इन्द्रिय से मन का संसर्ग होता है उसके विषय का ज्ञान होता है अन्य इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं होता। इससे यह प्रस्थापित होता है कि ज्ञेय वृत्ति (विषय का ज्ञान) तथा ज्ञाता भिन्न हैं क्योंकि आगामी क्षण ज्ञेय बदल जाता है किन्तु ज्ञाता नहीं बदलता अतः ज्ञाता (वृत्तिमान्) तथा ज्ञेय (वृत्ति) एक नहीं हैं।

यदि ज्ञाता ज्ञेय में भेद न माना जाय तो वृत्तियां सदा बनी रहेंगी तब किसी ज्ञान की उत्पत्ति तथा किसी का तिरोभाव संभव न होगा किन्तु यह प्रत्यक्ष का विरोधी है।

यह देखा जाता है कि आत्मा को किसी विषय का ग्रहण न होना मन के अन्य विषय में व्यस्त रहने से होता है। इस प्रकार किसी विषय का ग्रहण अर्थात् ज्ञान के होने या न होने का कारण मन का इन्द्रिय के साथ संयुक्त होना, न होना है। अतः विषय की उपलब्धि जिसका दूसरा नाम वृत्ति है उपलब्धि साधन से भिन्न है अर्थात् वृत्ति साध्य है मन साधन है: वृत्ति का ज्ञाता चेतन आत्मा साधक है।



अध्याय १२

आत्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म संबंधी विचार

गत् अध्याय में यह निश्चित हो चुका है कि जगत को आश्रयाभूता मूल भौतिक शक्ति प्रकृति नित्य है अर्थात् प्रकृति त्रिकाल सत्ता है। इस अध्याय में हमें आत्मा की नित्यता पर विचार करना है।

१. इन्द्रियातीत सत्ता संबंधी — गत् अध्याय में यह निश्चय हो चुका है कि द्रष्टा निराकार है अर्थात् इन्द्रियातीत है एवं अपरिणामी है।

प्रश्न – द्रष्टा इन्द्रियों का विषय नहीं है अर्थात् द्रष्टा शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणों से रहित है अभौतिक है। इन्द्रियातीत अभौतिक सत्ता के अस्तित्व के होने में क्या प्रमाण है?

समीक्षा – कुछ ऐसी भावात्माक सत्ताएँ अनुभव का विषय है जिनके आधार पर अभौतिक सत्ता का होना सिद्ध होता है। उदाहरण के लिये भूख का अनुभव हम सबों को है किन्तु भूख इन्द्रियग्राह्य नहीं है। यदि कहो कि भूख का स्पर्श होता है तो ठीक नहीं क्योंकि भूख का स्पर्श कहां होता है यह बताना कठिन है। अतः भूख इन्द्रियातीत होते हुए भी अनुभव का विषय है।

इसी प्रकार शरीर के किसी भाग में दर्द का अनुभव भी किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। कोई व्यक्ति यदि यह कहे कि मुझे पेट में दर्द हो रहा है तो दुनियाँ का कोई डाक्टर यह नहीं कह सकता कि हो रहा है या नहीं हो रहा। किसी प्रकार एक्सरे करके भी यह नहीं कह बताया जा सकता कि अमुक व्यक्ति को कहाँ दर्द हो रहा है अथवा नहीं हो रहा। इसी प्रकार किसी व्यक्ति को लगी भूख की सत्ता को सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता। यह भावात्मक देहगत परिवर्तन का ज्ञान है ज्ञान भावरूप गुण है, गुणों का धारक द्रव्य होता है अतः भावरूप गुण का धारक द्रव्य भी भावरूप होना चाहिये।

भूख परिणामी है भूख को उत्पन्न होते घटते-बढ़ते वा शान्त होते देखा गया है। इस तथ्य की मीमांसा आवश्यक है। भूख दो प्रक्रियाओं का संयुक्त रूप है। शरीर में शक्ति की कमी देह का धर्म है। इस शक्ति की कमी का अनुभव, जो देह

का धर्म नहीं है, भावात्मक है ज्ञानरूप है। शक्ति का घटना, बढ़ना देखा जाता है जिसका कारण है शक्ति के भौतिक साधन की कमी; पूर्ति होना। अतः दैहिक शक्ति परिणामी हैं किन्तु इसका अनुभूति रूप ज्ञान अपरिणामी है। जो तथ्य, जो स्थिति जैसी हो उसे वैसा ही जानना ज्ञान का लक्षण है अतः जब देह में शक्ति की कमी हो तो कमी को (भूख रूप) कमी अनुभव करना जब कमी न हो तो वैसा ही तृप्ति रूप में अनुभव करना यथावत् ज्ञान करना है। अतः ज्ञान अविकारी है यथास्थिति का अनुभव है। भूख तथा दर्द के भावात्मक ज्ञान का अनुभव प्रत्यक्ष सिद्ध है। ज्ञान गुण है। इससे यह फलित हुआ कि भूख के भावात्मक अनुभव के ज्ञान का कर्ता भी भावरूप है। वह अपरणामी होने से तथा इन्द्रियातीत होने से निराकार है अत निराकार चेतना की सत्ता सिद्ध है।

२. अनुभवकर्ता की त्रिकाल सत्ता —

भूख का अनुभव कर्ता यह कहता है कि उस समय मुझे बड़ी जोर की भूख लगी थी शरीर कार्य करने में असक्त हो गया था, उसी प्रकार कहता है कि मुझे प्रतिदिन १२ बजे बड़ी जोर की भूख लगती है। भूख आती और जाती रहती है अतृप्त और तृप्त होती रहती है किन्तु उसका अनुभव कर्ता अपने आप को भूख के भूतकाल के ज्ञान से संबंधित रखता है भविष्य में आने वाली भूख का भी उसे ज्ञान है अतः तीनों कालों भूत, वर्तमान, भविष्य की अनुभूति को धारण करने वाला उस अनुभूति रूप ज्ञान का धारक निस्संदेह नित्य है, अविकारी है, विकार तो देह जन्य हैं। भूख, दर्द को उत्पन्न करने वाली भौतिक स्थिति अनित्य है उत्पन्न होती है, क्षय होती है वृद्धि को प्राप्त होती है एवं नष्ट होती है। यदि भूख या दर्द के अनुभव के साथ ही उनका अनुभव कर्ता भी नष्ट हो जावे तो यह कौन कहेगा कि मुझे अमुक समय बहुत भूख लगी थी मुझे उस समय बहुत दर्द हो रहा था। स्थिति अनित्य है उसका ज्ञाता नित्य है।

जिस प्रकार भूख या दर्द का ज्ञान इन्द्रियों के विषय नहीं है किन्तु इनकी सत्ता निर्विवाद सिद्ध है उसी प्रकार मानसिक संकल्प, विकल्प, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष सभी भावों की सत्ता प्रतिदिन के अनुभव का विषय है। ये सभी भाव उत्पत्ति विनाश धर्मी हैं क्षय, वृद्धि स्वभाव वाले हैं, अनित्य हैं। ये लहरों की तरह से उठते हैं लहरों की तरह शांत हो जाते हैं। जैसे लहरों के उद्गम और लय का आश्रय सरोवर होता है वैसे ही विचारों के उद्गम और लय का आश्रय चेतना होती है। मनन इन्द्रियों का विषय नहीं है किन्तु उसकी सत्ता सिद्ध है इसलिये दर्शन के सूत्र में कहा गया है —

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे (वै. ८।१२)

आत्मा और मन अप्रत्यक्ष हैं।

३. सन्तान से संबंध में नित्यता का भाव —

संसार के सभी मनुष्य बड़ी मेहनत से धन, दौलत, जमीन, जायदाद बनाते हैं। यदि उनसे कहो कि इन्हें विक्रय करके धन का उपभोग क्यों नहीं करते तो कहते हैं कि मेरे बाद मेरी सन्तान इसका उपभोग करेगी। अभी जीवन काल में भविष्य की बात सोचता है कि देह छोड़ देने के उपरान्त भी उसका सन्तान से संबंध बना रहेगा। उसके अन्दर यह भावना कि देह त्याग के बाद भी उसका संबंध सन्तान से बना रहेगा किसने भर दी है अर्थात् वह देह त्याग देने के पश्चात् भी बना रहेगा तभी तो देह त्याग देने वाले का सम्बन्ध देह धारी सन्तान से बन सकेगा। एक की सत्ता बनी रहे और दूसरे की नष्ट हो जावे तो सम्बन्ध बना नहीं रह सकता। संबंध तो तब बना रहेगा जब दोनों की सत्ता बनी रहे इसका तात्पर्य यह है कि मरने वाले की सत्ता चेतना के रूप में बनी रहती है अत. देह त्याग देने वाले की सत्ता की निरन्तरता (*continuation*) चेतन-सत्ता के रूप में बनी रहना चाहिये तभी एक जीवित व्यक्ति का दूसरे देह त्याग कर जाने वाले के साथ संबंध का भाव हो सकता है। इस संबंध के भाव की सत्ता चेतना की नित्यता की द्योतक है।

सारे विश्व में सभी धर्म, जाति, देश के लोगों में मृत व्यक्ति से संबंध की भावना वर्तमान है यह भावना स्वाभाविक है। सारे संसार के लोगों ने इस विषय में कोई समझौता नहीं किया है। यदि शरीर का धारण कर्ता नित्य न होता, यदि देह केवल भौतिक रासायनिक द्रव्यमय होता तो ऐसी भावना कभी उत्पन्न न होती, रसायन से रसायन का क्या संबन्ध, कौन पिता कौन पुत्र। जीव कोशों का समूह भी अपने सुख के हेतु से जीवन धारण करता है। वे जीव कोश स्वयं सुख का भोग न कर कष्ट उठाकर सन्तान अर्थात् अन्य जीव कोशों के सुख के लिये क्यों सोचते हैं उनके लिये अपने सुख भोग को क्यों त्यागते हैं यह बात जीव कोश की स्वाभाविक प्रवृत्ति के जो स्व सुख के हेतु से जीवित रहना व वृद्धि करना है, विपरीत है। अत: सन्तान के भावी सुख की कामना में नित्य चेतन का अन्य नित्य चेतन से देहों के माध्यम से प्रस्थापित हुआ सम्बन्ध ही हेतु है।

इसी प्रकार पिता के देहावसान के अनन्तर पुत्र पिता की स्मृति में श्राद्ध करता है। ईसाई, मुसलमान कब्र पर फूल चढ़ाते हैं यहाँ तक कि चरम नास्तिक रूस वाले भी लेनिन की कब्र पर फूल चढ़ाते हैं लेनिन तो मिट्टी था, केमिकल्स था, क्लोरियम नाइट्रेट था, एमिनो एसिड था उन पर फूल चढ़ाते भौतिकवादी को लज्जा आनी चाहिये। यदि कद्र विचारों की है तो विचारों को फूल चढ़ाओ।

एमिनो एसिड से विचारों का क्या सम्बन्ध है एमिनो एसिड विचारों को उद्भूत भी कैसे करेगा। फिर जो कब्र हैं वह तो भौतिक द्रव्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उस पर फूल क्यों चढ़ाते हो, एसिड पर ही फूल चढ़ाना है तो प्रयोगशाला में रखे एसिड पर चढ़ा लो, केमिस्ट की दूकान पर चढ़ा लो। कहीं तुम्हारे अन्तस् में लेनिन की आत्मा के होने की बात छिपी हुई तो नहीं है, अपने दिल को टटोलो। हिन्दू लोग तो मृत देह को जला देते हैं फिर सीधे ही आत्मा से सम्बन्ध मानते हैं। इस प्रकार यह भाव ज्ञात, अज्ञात रूप से मानवमात्र में विद्यमान है इसका निश्चय किसी संगोष्ठी में नहीं किया गया। यह विचार मानव के स्वभाव में है, यह विचार अन्तःप्रेरणा से उपजा है तथा यह आत्मा की नित्यता की आन्तरिक प्रतीति का द्योतक है।

यदि कहो कि हम तो विचारों पर फूल चढ़ाते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि द्रव्य (*matter*) की सत्ता से विचारों की सत्ता पृथक् है। स्पष्ट है कि मार्क्सवाद द्रव्य नहीं है, विचार है तब यह विचारणीय है कि विचार क्या वस्तु है, विचार का स्वरूप क्या है।

४. द्रव्य और विचार की पृथक् सत्ता संबंधी विवेचना —

यह निश्चित है कि विचार द्रव्य का यौगिक अथवा परिणाम नहीं है। अतः जगत में दो प्रकार की सत्ताएँ हैं एक है द्रव्य (मेटर) सत्ता और दूसरी है विचार सत्ता। इन दोनों के बीच भेद प्रत्यक्ष है। द्रव्य (मेटर) इन्द्रियों का विषय है अर्थात् द्रव्य आँख, कान, स्पर्शादि का विषय है किन्तु विचार भाव-रूप है जो केवल विशुद्ध अनुभूति है इन्द्रियों का विषय नहीं है। अतः दोनों सत्ताएँ वैलक्षण्य हैं, परस्पर विरुद्ध गुण, स्वभाव वाली हैं। इनके स्वरूप का विवेचन आवश्यक है।

पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्रव्य का गुण है जो द्रव्य सत्ता का अंग है। यह शक्ति तब से मौजूद है जब से पृथ्वी है किन्तु इस शक्ति की विद्यमानता का विचार आधुनिक है न्यूटन के काल से है। न्यूटन के द्वारा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सत्ता के अवलोकन के पूर्व भी गुरुत्वाकर्षण शक्ति की सत्ता थी तथा पृथ्वी अपने आकर्षण के गुणानुसार ही पृथ्वीगत पदार्थों को खींचती थी। अतः पृथ्वी के गुण की सत्ता का काल, उस गुण के मानव द्वारा ज्ञान में आने के काल से भिन्न है तथा पृथ्वी की आकर्षण शक्ति पृथ्वी में व्याप्त है किन्तु उस गुण के होने की अनुभूति मानव के विचार में है। जिन सत्ताओं के देश व उत्पत्ति काल भिन्न हैं वे पृथक् सत्ताएँ हैं अर्थात् द्रव्य या द्रव्य के गुण की सत्ता उस विचार सत्ता से सर्वथा भिन्न है जिसमें उस द्रव्य या उसके गुण के होने की अनुभूति है, उसके होने का ज्ञान निहित है।

मार्क्सवाद के प्रतिपादन के पूर्व भी पूँजीपतियों द्वारा सर्वहारा का शोषण होता था तथा अर्थव्यवस्था में चंद लोगों के लाभ के लिये नियंत्रित करने की क्षमता की सत्ता थी किन्तु अर्थव्यवस्था शोषण पर आधारित है इस विचार, इस दर्शन की सत्ता मार्क्स द्वारा दास केपिटल लिखे जाने के पूर्व न थी। अत: दो पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं शोषयिता अर्थव्यवस्था और इस शोषण का ज्ञान। अत: मार्क्सवाद विचार है जो व्यवस्था की, धन श्रम नियोजन एवं लाभ विभाजन प्रणाली की युक्तियुक्त समीक्षा है विश्लेषण पूर्ण ज्ञान है इस ज्ञान, विचार की सत्ता व्यवस्था से पृथक् है।

सर आईन्सटीन द्वारा सापेक्षता (*relativity*) के सिद्धान्त के प्रतिपादन के पूर्व भी वस्तुएँ (*objects*) स्थिति व गति के संबंध में दिक् काल (*space time*) के आयामों (*dimensions*) में परस्पर सापेक्ष माप पर निर्भर होकर वर्तती थीं तथा इस सापेक्ष मान की अनेक प्रकार के भौतिक संबंध निर्धारित करने में महत्व-पूर्ण भूमिका थी किन्तु सापेक्षवाद के विचार की सत्ता सर आईन्सटीन के सिद्धान्त के पूर्व न थी। अत: दो तथ्यों की सत्ता स्पष्ट रूप से दर्शनीय है। प्रकृति में सापेक्षता के आधार पर स्थिति, गति आदि के नियंत्रण की सत्ता सर्वकालिक है, सदैव से विद्यमान है किन्तु इस सापेक्षता की सत्ता है इसका ज्ञान, इसके होने का विचार सर्वकालिक नहीं है वरन् आधुनिक है। इस विचार का काल २० वीं सदी है।

इस प्रकार जगत में दो प्रकार की सत्ताओं के होने का अनुभव प्रत्यक्ष है। एक सत्ता द्रव्य की है दूसरी सत्ता द्रव्य के ज्ञान की है। प्रकृति में अनेक भौतिक गुण हैं इन गुणों की सत्ता प्रकृति की प्रभुसत्ता से जुड़ी है जो सर्वकालिक है किन्तु इन गुणों के ज्ञान की सत्ता सर्वकालिक नहीं है। जैसे-जैसे इन गुणों का ज्ञान होता जाता है इन विचारों का अविष्कार-कर्त्ता के नाम से भौतिकी शास्त्र व रसायन शास्त्र में संकलन किया जाता है।

इसी प्रकार वनस्पति में जो गुण हैं वे वनस्पति की सत्ता के काल से हैं किन्तु इन गुणों संबंधी विचार आधुनिक है जो वनस्पति शास्त्र में संकलित किया गया है। इसी प्रकार भूगर्भ संबंधी विचार, प्राणी जीवन संबंधी विचार आदि हैं जिनका ज्ञान में आना आधुनिक है जिन्हें मोटे तौर पर विद्या कहते हैं। इस विद्या की सत्ता भूगर्भगत पदार्थ सत्ता, प्राणी जीवन सत्ता से पृथक् है। ग्रह, नक्षत्र सृष्टि में करोड़ों वर्षों से विद्यमान हैं किन्तु इनके संबंध का जो कुछ भी ज्ञान या विचार मौजूद है उसका काल ग्रह, नक्षत्र सत्ता के काल से पृथक् है। इस प्रकार प्राकृतिक गुणों की सत्ता का काल जगत की उत्पत्ति के काल से है किन्तु प्राकृतिक गुणों के

मानसिक ज्ञान का काल आधुनिक है प्रकृति की सत्ता के काल से भिन्न है। अत: मानसिक विचार सत्ता द्रव्य सत्ता से पृथक् है।

मेटर या द्रव्य इन्द्रियजन्य ज्ञान की परिधि में आता है किन्तु विचार भावरूप है जो अतीन्द्रिय-ज्ञान है, इन्द्रियातीत है। इस अतीन्द्रिय भावरूप विचार का आश्रय कौन-सी सत्ता है ? निश्चय ही मेटर इस भावरूप सत्ता का आश्रय नहीं है। भावरूप सत्ता का आश्रय भावरूप अभौतिक (*immaterial being. not consisting of matter*), अमूर्त (*incorporeal, not possessing any body*), निराकार (*formless*) ही होना चाहिये क्योंकि विचार का स्वरूप भी तद्वत् है, तद्रूप है और यह है द्रष्टा साक्षी की सत्ता जो अमूर्त (*spiritual entity*) है चेतन (*intelligent principle*) सत्ता है। यही अमूर्त चेतन सत्ता, भावरूप विचार की आश्रय है, इस ज्ञान की धारण कर्ता है।

जगत में विचार परंपरा जड़ पदार्थ सत्ता की निरन्तरता से जीवित नहीं है यह मानव की जो भावरूप सत्ता का वाहक है, परंपरागत सत्ता के कारण विद्यमान है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, कवि, लेखक, अर्थशास्त्री, राजनीति शास्त्री, भूगर्भशास्त्री आदि अपने जीवन काल में जो विचार व्यक्त करते हैं उन विचारों को मौजूद चेतना धारी मानव आगामी पीढ़ी को धरोहर के रूप में सौंप देते हैं जिसे वह आगामी पीढ़ी सुरक्षित रखकर अपनी आगामी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देती है। इस प्रकार विचार परंपरा चेतन मानव परंपरा की सत्ता के आश्रय से टिकी है। जब इस पृथ्वी पर मानव नहीं था तब भी प्रकृति अपने सर्वांगीण स्वरूप में विद्यमान थी। विचार परंपरा की सत्ता मानव के धरती पर आने के बाद चली और मानव से ही आगे भी चलेगी। प्रकृति द्रव्य सत्ता है। प्रकृति की सर्वांगीण सत्ता और उस सत्ता का ज्ञान उस द्रव्य सत्ता से पृथक् है प्रकृति द्रव्य रूप है उसका ज्ञान विचार है, विचार-सत्ता भाव रूप है। इस भावरूप सत्ता का धारक, इस दर्शन का आश्रय अभौतिक चेतना है।

ज्ञान अथवा विचार पदार्थ की अवस्था नहीं है। यदि ऐसा होता तो जैसे बीज से अंकुर प्रस्फुटित होता है, फिर अंकुर से पौधा बनता तथा पौधा से फूल खिलता हुआ विकसित होता हुआ सुगंधि बिखेरता व मुरझा जाता है विचार का उद्गम व विकास भी वैसा ही होता। प्रकृति के प्रत्येक द्रव्य कारण-कार्य व्यवस्था के अन्तर्गत वर्तते हैं इनमें स्वच्छंदता का अभाव है इनमें चुनाव स्वातंत्र्य का अभाव है, इनमें स्वेच्छा शक्ति का सर्वथा अभाव है किन्तु विचार का मुख्य लक्षण स्वतंत्रता है, स्वेच्छा है, स्वच्छंदता है कोई भी विचार व्यक्ति पर हठात् प्रतिरोपित नहीं हो

सकता, बलात् सवार नहीं हो सकता। विचार चेतन की स्वेच्छानुसार उद्भूत होता है यह प्रकृति से विचार की विलक्षणता है। विचार की वाहक इच्छा शक्ति है अतः जो अमूर्त सत्ता विचार का आश्रय है वही इच्छा शक्ति का भी धारणकर्ता है। सुख दुःख रूप भोग भी विचार रूप है अतः सुख दुःख का भोक्ता भी वही सत्ता है। इस प्रकार भावरूप अमूर्त सत्ता जो विचारों का आश्रय है इच्छा, ज्ञान एवं भोग इन तीन विलक्षण गुणों से अलंकृत है।

५. जन्मे शिशु में राग द्वेष के स्रोत की परीक्षा —

शिशु जन्म के तुरन्त बाद हर्ष, भय, शोक से ग्रसित हुआ, अनुरक्त हुआ देखा जाता है। शिशु के जन्म पर कुछ लोग बन्दूक चलाते हैं तो शिशु भय से आक्रान्त हो चौंकता है। ऐसे ही शिशु का जन्मते ही रोना उसके शोक का परिचायक है इस जन्म में शिशु ने अभी इन भावों का अनुभव नहीं किया है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अभ्यास से ही सब कुछ सीखा जाता है किन्तु इस जन्म में बालक को पूर्वाभ्यास का अभाव है। इसी प्रकार बालक माता के स्तनपान के लिये ललकता है अनन्तर स्तनपान से सन्तुष्ट हो हर्ष व्यक्त करता है। इस जन्म में बालक को इन भावों का पूर्वाभ्यास का अवसर नहीं मिला। शिशु को यह भी अभ्यास नहीं है कि हर्ष, भय, शोक की अभिव्यक्ति किस प्रकार की जानी चाहिये। पूर्व अभ्यास के बिना यह कार्य किया जाना शक्य नहीं है अतः यह निश्चय है कि शिशु पूर्व जन्म के अनुभूत अभ्यास की स्मृति के आधार पर ही वर्तमान में व्यवहार करता है। इस प्रकार शिशु का वर्ताव पूर्व जन्म के संस्कारों की पुनरावृत्ति का द्योतक है। यह तथ्य न्याय दर्शन सूत्र (३।१।१८) में कही गयी है—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्ष भय शोक सम्प्रतिपत्तेः।

पूर्व जन्म अभ्यस्त स्मृति के अनुबन्ध, अनुसरण से शिशु को हर्ष, भय, शोक ज्ञात होते हैं।

ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात ने भी तुरन्त जन्मे बछड़ों आदि का स्तनपान करने के कृत्य को पूर्व जन्म के अभ्यास के प्रतिफल स्वरूप कहा है तथा इसे आत्मा के पुनर्जन्म में हेतु निरूपित किया है।

प्रश्न— शिशु के हर्ष शोकादि अभिव्यक्त करने के व्यवहार में पूर्व जन्माभ्यास का हेतु मानना अयुक्त है जीव इन गुणों सहित उत्पन्न होता है। जैसे लोक में घट, पुष्प, फल अपने कारण द्रव्य से गुणों सहित उत्पन्न होता है वैसे ही शिशु, जीव कोशों का संयुक्त रूप है उन कोशों में वे हर्ष, भय आदि गुण अन्तःप्रेरणा (*instinct*) से मौजूद हैं।

समीक्षा– आत्मा किसी तत्त्व से उत्पन्न घटादि की तरह कार्य नहीं है, कार्य में कारण के गुण आते हैं। पूर्व अध्यायों में यह प्रस्थापित किया जा चुका है कि आत्मा अभौतिक सत्ता है। यदि कहो कि उत्पत्तिवान् है तो उसकी उत्पत्ति किस कारण द्रव्य से होती है यह साध्य है, इसे सिद्ध करना पड़ेगा उसके अभाव में उपरोक्त दृष्टान्त अमान्य है।

राग, द्वेष, भय की उत्पत्ति में संकल्प निमित्त है, हेतु है। जो वस्तु प्राप्त करने योग्य होती है उसके प्रति राग होता है जो अनिष्ट अर्थात् हानिकारक हो उसके प्रति द्वेष होता है। इसी प्रकार भय की उत्पत्ति अनिष्ट की सम्भावना से होती है। इस प्रकार राग, द्वेष, भय जीवकोशों के गुण नहीं हैं जीवकोश चेतन की उत्पत्ति में हेतु नहीं हैं। राग, द्वेष, भय संकल्प पर आधारित हैं। संकल्प का अर्थ है इष्ट साधनता के ज्ञान का होना अर्थात् जिसे हम प्राप्त या अप्राप्त करना चाहते हैं उसके ज्ञान का होना। यह ज्ञान पूर्व अनुभव के बिना नहीं हो सकता अतः संकल्प पूर्व अनुभव, पूर्वाभ्यास जन्य है।

अभ्यास जब बार-बार किया जाता है तो यह सहजवृत्ति (*instinct*) का रूप ले लेता है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि हम तैरना सीखते हैं, स्कूटर, मोटर चलाना सीखते हैं फिर वह अभ्यास हमारी चेतना की सहजवृत्ति बन जाता है तब हमें वाहन में ब्रेक लगाने के लिये सोचना नहीं पड़ता वरन् वह अपने आप (*automatic*) सम्पन्न हो जाता है। बचपन में हमने चलना सीखा है, बोलना सीखा है, आज वह हमारी सहजवृत्ति का अंग है। इसी प्रकार तैरना, स्कूटर, साईकल, मोटर चलाना, लिखना आज हमारी सहजवृत्ति का अंग है किन्तु इस सहजवृत्ति के उपार्जन के लिये हमने भूतकाल में अभ्यास किया है। हमारे मानव जीवन में ऐसा कोई अनुभव नहीं है कि बिना अभ्यास के कोई कार्य हमारे व्यवहार में सहजवृत्ति बन जावे। अतः आज के जन्मे शिशु में जो प्रवृत्तियां देखने में आती हैं उन्हें सहजवृत्ति (*instinct*) कह देने से यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि ये शिशु में बिना पूर्वाभ्यास के उद्भूत हुई प्रवृत्तियां हैं। बिना पूर्वाभ्यास के प्रवृत्ति या सहजवृत्ति (*instinct*) उद्भूत होती ही नहीं तो फिर शिशु ने इसका अभ्यास कब किया? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि यह अभ्यास पूर्वजन्म कृत है।

प्रश्न – पशु में पानी में तैरने की सहजवृत्ति होती है वह बिना अभ्यास के पानी में तैरता है ऐसे ही अन्य सहजवृत्ति की सत्ता है?

समीक्षा – यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि हम चलना, बोलना, लिखना, पढ़ना सभी कुछ अभ्यास से सीखते हैं। मानव तैरना सीखता है। मानव दो पैर

वाला है उसकी देह का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र उर्ध्वाधर (*vertical*) रेखा में होता है इस कारण पानी में मनुष्य डूबने लगता है। चौपाये जानवर का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र मध्य भाग में होता है इस कारण वह चार पाये वाली टेबिल की तरह पानी में संतुलन कर लेता है। जानवर को एक अजीव सी असंतुलन की भावना होती है और वह पानी में गिरते ही पैर चलाने लगता है इससे वह अपने भार से अधिक पानी को हटा देता है (*mass of water displaced is more than the mass of animal resulting in a greater up thrust necessary for floating*) जो तैरने के लिये आवश्यक है।

यह सहजवृत्ति का उदाहरण नहीं है पशु की देह की बनावट ही उसके तैरने में हेतु है। यदि तैरना पशु की सहजवृत्ति होती तो पक्षी भी विना अभ्यास के हवा में उड़ने लगते किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है पक्षी अपने बच्चों को उड़ने का अभ्यास कराते हैं। शिकारी जानवर शेर आदि अपने बच्चों को शिकार करना सिखाते हैं अतः विना पूर्वाभ्यास के सहजवृत्ति हासिल नहीं होती यह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है कि हमें भूख लगती है तो हमें इसको तृप्त करने का साधन ज्ञात है हम उस साधन के पास दौड़ते हैं। आज के जन्मे शिशु को क्षुधा तृप्त करने के साधन के ज्ञान का होना पूर्वाभ्यास की स्मृति के संस्कार के विना नहीं हो सकता। यह तथ्य जीवात्मा की नित्यता एवं पुनर्जन्म की सत्ता का द्योतक है।

६. नित्य जीवात्मा का जन्म मरण रूप चक्र में परिभ्रमण—

गत अध्याय में यह चर्चा हो चुकी है कि जगत में दो प्रकार की सत्ताएं हैं। जगत के सभी द्रव्य अनित्य अर्थात् विकारी हैं किन्तु मूल प्रकृति अविकारी है तथा मूल प्रकृति की सत्ता दर्शन से सिद्ध है तथा विज्ञान से प्रयोग सिद्ध है। अतः जगत में दो प्रकार की सत्ताएँ हैं विकारी तथा अविकारी। नित्य सत्ता का लक्षण है अविकारी होना। अविकारी वही सत्ता होगी जो घटकों से रहित हो अवयवों का संयुक्त रूप न हो। प्रकृति इस प्रकार की सत्ता है यह हम परीक्षा कर चुके हैं।

चेतन आत्मा भावों का आश्रय है भाव इन्द्रियातीत हैं केवल अनुभव का विषय है। चेतना की सत्ता भी तद्वत् भावरूप है अर्थात् चेतना अभौतिक है अभौतिक होने से अविभाज्य है, जो अविभाज्य है वह यौगिक नहीं हो सकता। जो यौगिक नहीं है जो अवयवों का संयुक्त रूप नहीं है वह विकारी नहीं हो सकता।

विकारी सत्ता में भूतकाल के ज्ञान को संचय करना सम्भव नहीं है अतः द्रष्टा अविकारी है अविकारी सत्ता का नित्यत्व सिद्ध है।

७. आत्मा का पुनर्जन्म —

हम देख चुके हैं कि नित्य सत्ता प्रकृति सृष्ट्युत्पत्ति प्रलय के अनादि अनन्त काल चक्र में नियोजित है। प्रश्न होता है- नित्य आत्मा काल के प्रवाह में किस प्रकार नियोजित होता है ? आत्मा का देह से संयुक्त होना प्राणी के जन्म के रूप में देखा गया है। पुनः देह के विनाश होने पर आत्मा द्वारा देह त्याग स्वाभाविक है। यह सत्य है कि—

'जातस्य हि ध्रुवोमृत्युः'

उत्पन्न प्राणी मृत्यु को अवश्य प्राप्त होगा तब हम इसका विलोम मानने को तैयार क्यों नहीं हैं। जगत में सभी सत्ताएँ विरोधी भाव सहित अस्तित्ववान् देखी गयी हैं वरन् सत्य तो यह है कि संसार में सभी सत्ताएँ एक चक्रीय क्रम (*cyclic order*) में अवस्थित हैं। रात्रि, दिन का मात्र विलोम नहीं है वरन् दिन-रात एक चक्रीय क्रम में व्यवस्थित हैं, दिन के बाद रात और रात के बाद फिर दिन आता है। इसी प्रकार सूर्य ताप से वाष्प रूप में परिणत हुआ सागर, नदियों का जल बादल बनकर पुनः वर्षा के द्वारा उन्हीं नदियों में पहुंच जाता है जहाँ से वह भाफ बना था। नदी जाकर समुद्र में मिल जाती है इस प्रकार यह क्रम भी पूरा हो जाता है। बीज से पौधा ऊगता है फिर वह वृक्ष बनकर फल देता है फल में पुनः वह बीज प्राप्त हो जाता है।

वनस्पति से रस रक्त बनता है उससे माँस, हड्डी बनती है इस प्रकार मानव देह का विकास होता है। मृत्योपरांत देह जलकर या गलकर कार्बन डाईआक्साईड आदि में परिवर्तित हो जाती है जहां से पौधे फिर उस कार्बन डाईआक्साईड को वनस्पति रूप में परिवर्तित कर देते हैं।

नित्य प्रकृति सृष्टि लय के सनातन काल चक्र में भ्रमण कर रही है। संसार में वर्तमान इस चक्रीय गति का दर्शन ही सुदर्शन चक्र का दर्शन है जो ईश्वरीय व्यवस्था में प्रकृति को कालातीत क्रम में नियोजित रखता है तब शाश्वत् जीवात्मा कालातीत क्रम में किस प्रकार नियोजित है, उस अनादि अनन्त काल क्रम में उसकी क्या गति है, वह किस प्रकार इस काल से संबद्ध है तब यह अनुमान अत्यन्त स्वाभाविक निष्कर्ष है कि शाश्वत् जीवात्मा जन्म-मृत्यु के सनातन चक्र में भ्रमण करता है। जीवात्मा को हम देह के जन्म के साथ जगत में आते देखते ही हैं तो यह किस आधार पर कहा जा सकता है कि इसके पूर्व जीवात्मा किसी अन्य देह को

धारण कर जन्म कही जाने वाली प्रक्रिया से होकर नहीं गुजरा तथा अन्य देह से निष्क्रमण नहीं किया। एक देह धारण की है तो अन्य भी धारण की होंगी। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा—

'ध्रुवं जन्म मृतस्य च'

देह त्याग कर जाने वाली आत्मा का पुनर्जन्म होता है यह एक ध्रुव सत्य है।

प्रश्न— आत्मा निराकार है देह साकार, भौतिक है। भौतिक द्रव्य को ही भौतिक द्रव्य बांध सकता है अतः आत्मा के देह के बधन में रहने से यह निश्चय होता है कि आत्मा अभौतिक नहीं है, भौतिक ही है।

समीक्षा— आत्मा देह के भौतिक बंधन में नहीं है। आत्मा देह में अपनी आसक्ति, ममता की डोर से बँधी है। कोई भौतिक बंधन आत्मा को देह में नहीं बांध सकता यह आसक्ति जन्म जन्मान्तरों से देह के साथ लगाव व देह में अपनेपन के भाव के कारण उत्पन्न होती है यही आसक्ति उसके जन्म जन्मान्तर में भ्रमण का हेतु है।

प्रश्न— यदि जीवात्मा केवल आसक्ति से इस देह में बंधा है तब तो मृत्यु हो ही नहीं सकती क्योंकि अपनी इच्छा से वह देह क्यों त्याग करेगा। जब देह त्याग न करेगा तो मृत्यु भी न होगी किन्तु यह तथ्य प्रत्यक्ष का विरोधी है।

समीक्षा— 'मृत्यु आत्मा के देह त्याग करने से नहीं होती वरन् देह के नष्ट हो जाने से होती है तब जीवात्मा के विद्यमान रहने पर भी देह क्रियाशील नहीं हो सकती। जिस प्रकार घट में भरा हुआ पानी घट के फूट जाने पर उसमें नहीं रह सकता वैसे ही नष्ट शरीर में आत्मा की मौजूदगी से भी देह कार्यशील नहीं हो सकती।

८. पुनर्जन्म में स्मृति संबंधी विचार—

आत्मा की स्थिति देह में उसी प्रकार है जिस प्रकार पाँच वाल्वों के रेडियो में बिजली की स्थिति है। यदि बिजली न हो तो पाँचों वाल्व ठीक होने पर भी रेडियो कार्यरत न होगा। पर यदि एक भी बाल्व खराब हुआ तो बिजली रहने पर भी रेडियो की कार्य-क्षमता में फर्क आवेगा। यही होता है जब देह का कोई आरगन, कोई यन्त्र लिवर, किडनी, हृदय, मस्तिष्क आदि दूषित हो जाते हैं। जब एक-दो वाल्व एकदम खराब हो जाते हैं तो बिजली रहने पर भी रेडियो कार्य नहीं करता। यही स्थिति होती है प्राणी के साथ जब हृदय रुक जाता है, किडनी नष्ट हो जाती है या लिवर नष्ट हो जाता है तब देह मृत हो जाती है, अक्षम हो जाती है उस अक्षम देह में जीवात्मा के रहने पर भी देह का विनष्ट हुआ अंग ठीक नहीं हो सकता। जब किसी व्यक्ति को ऐसा रोग हो जाता है उदाहरण के लिये कैन्सर,

तब देह नष्ट हो जाती है। उस नष्ट देह में जीवात्मा को अपना मोह छोड़ना ही पड़ता है। मन, बुद्धि जो चेतना के साथ रहते हैं तथा जो देह से प्राप्त भौतिक ऊर्जा पर निर्भर रहते हैं, देह के आश्रय से रहित होने के कारण असक्त हो जाते हैं तव वही स्थिति निर्मित हो जाती है जो सुषुप्ति अवस्था में होती है। इस अवस्था में जीव के पर्याप्त समय तक रहने के कारण उसके मन व चित्त पर बने पूर्व संस्कार नष्ट हो जाते हैं। इस कारण पुनर्जन्म होने पर जीवात्मा पूर्व जन्म की स्मृति से रहित हो जाता है।

प्रश्न– यदि जीवात्मा की स्मृति नष्ट हो जाती है तो पूर्व जन्म के सभी संस्कार नष्ट हो जाते हैं तव राग, द्वेष, भय आदि के संस्कार का भी समूल उच्छेद हो जाता है, ये सब नष्ट हो जाते हैं पुनः जीवात्मा नवीन जन्म में राग, द्वेष के संस्कार से रहित ही देह सहित उत्पन्न होता है।

समीक्षा - स्मृति दो प्रकार के संस्कार निहित करती है। एक संस्कार तथ्यों का होता है जिसके चित्र चित्त पर अंकित होते हैं यह तथ्यों का संस्कार पूर्व जन्म के सम्बन्धों का होता है जैसे मैं कौन था, मेरे माता-पिता आदि कौन थे। यह संस्कार चित्त पर चित्ररूप में रहता है जो कालान्तर में नष्ट हो जाता है। इसके अभाव में द्रष्टा पूर्व जन्म के सम्बन्धों को नहीं जान सकता क्योंकि द्रष्टा का ज्ञान यथावत् होता है जैसा चित्त पर होता है वैसा ही उसका ज्ञान होता है किन्तु चित्त साफ (*blank*) हो जाता है अतः द्रष्टा को पूर्व जन्म के ज्ञान के लिये कोई स्रोत नहीं रहता।

दूसरा संस्कार तथ्य सम्बन्धी नहीं, प्रवृत्ति सम्बन्धी है यह संस्कार बना रहता है इस कारण राग, द्वेष, भय आदि प्रवृत्ति जन्य संस्कार बने रहते हैं। हम पूर्व जन्म तो क्या इस जन्म में भी देखते हैं कि हमें बचपन से आज तक की सभी घटनाएँ याद नहीं हैं अनेक घटनाएँ विस्मृति के गर्त में चली गयी हैं वहीं हम यह भी देखते हैं कि हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ ज्यों की त्यों बनी हैं या कुछ घट बढ़ गयी हैं। गुस्से की प्रवृत्ति, लोभ की प्रवृत्ति, आलस्य की प्रवृत्ति, शीघ्र निर्णय लेने, न लेने की प्रवृत्ति, किसी बात को बड़ी गम्भीरता से (*taking seriously*) लेने की प्रवृत्ति, किसी बात को बड़ी आसानी (*lightly*) से लेने की प्रवृत्ति, चिन्ता करने, न करने की प्रवृत्ति, बदला लेने की प्रवृत्ति, क्षमा करने की प्रवृत्ति, स्व-अर्थ को उपलब्ध करने के लिये जुट जाने की प्रवृत्ति, निःस्वार्थ भाव से कार्य करने की प्रवृत्ति आदि ऐसे भाव हैं जो सारे जीवन बने रहते हैं इनकी विस्मृति नहीं होती; उद्भव, विकास क्षीणता होती रहती है जिनका कारण वातावरण, सत्संग आदि है। यहाँ प्रवृत्ति का अर्थ है झुकाव, आदत जिनका आधार है अभ्यास।

इस प्रकार देह त्याग के समय जीव की जो प्रवृत्तियाँ रहती हैं वे ही आगामी जन्म के अनन्तर उद्भव होने लगती हैं इसे ही जीव का स्वभाव कहते हैं। यही स्वभाव उसके आगामी जन्म में कार्य करने की प्रणाली निर्धारित करता है।

प्रश्न– जीवात्मा अपरिणामी है यदि उसका स्वभाव परिवर्तनशील है तो वह परिणामी हुआ, अपरिणामी नहीं हो सकता।

समीक्षा– यहाँ स्वभाव का प्रयोग आदत, प्रवृत्ति के अर्थ में किया गया है स्वभाव से यहाँ स्व-भाव, स्व-सत्ता से तात्पर्य नहीं है। स्वभाव से आप स्वरूप अर्थ ग्रहण कर रहे हैं जीवात्मा स्वरूप से (उस अर्थ में स्वभाव से) अपरिवर्तनशील है। उसके स्वरूप के लक्षण हैं– ज्ञान करना (ज्ञातृत्व), निश्चय करना (कर्तृत्व), सुख दुःख का भोग करना (भोक्तृत्व)। ये लक्षण नित्य एवं अपरिवर्तनशील हैं।

किस बात का ज्ञान करना, किस तथ्य में सुख दुःख की अनुभूति करना, किस प्रकार के कर्म में प्रयत्न करना ये संगदोष तथा आसक्तिजन्य हैं। ज्ञान का विषय अध्यात्म हो सकता है, भौतिक विज्ञान हो सकता है, व्यापार हो सकता है, कृषि हो सकता है, कुछ अन्य हो सकता है इसमें कारण वातावरण है। इसी प्रकार संकल्प आदि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। किस बात में कोई सुख अनुभव करता है– खाने पीने में, गाने बजाने में, हार्सरेस में भाग लेने में, विद्याध्ययन में, भ्रमण में, राजनीति में, व्यापार में, धर्म प्रचार में, अध्यात्म विद्या में, यह संस्कार व वातावरण पर निर्भर है।



अध्याय १३

काल मीमांसा

काल या समय क्या है इस विषय पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। समय को विज्ञान में चतुर्थ आयाम कहा गया है। प्रत्येक वस्तु की सत्ता से काल जुड़ा हुआ है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ कहते हैं तो जब तक समय इसमें सन्निहित न हो बात अर्थहीन है। यदि यह कहा जावे कि दिन १२ घंटे का है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दिन का माप ऋतु के अनुसार घटता बढ़ता रहता है तब हमें यह कहना पड़ेगा कि २२ दिसम्बर को अमुक स्थान पर दिन की अवधि इतनी थी। समय क्या है इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है समय प्रकृति से, द्रव्य से निरपेक्ष (*absolute*) सत्ता नहीं है। समय सापेक्ष (*relative*) सत्ता है।

१. काल विवेचना —

काल उत्पत्तिवान् है। काल का अस्तित्व घटनाओं की सापेक्षता (*relativeness*) से है, घटनाओं के क्रम की सापेक्षता से है घटनाक्रम से निरपेक्ष, स्वतंत्र, समय का अस्तित्व नहीं है। घड़ी के पेन्डुलम का एक चक्कर पूरा करना एक घटना है कुछ चक्करों के समुदाय को सेकेन्ड कहते हैं अर्थात् घटनाओं के तारतम्य का समग्ररूप, समष्टिरूप समय के रूप में देखा जाता है। इसी प्रकार सूर्य उदय होकर क्षितिज से ऊपर चढ़ता हुआ अस्त होता है, यह एक घटना क्रम है उदय एवं अस्त इन दो घटनाओं को जोड़ने वाला जो सूर्य का निरन्तर आरोहण रूप घटना क्रम है उसे दिन की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी द्वारा सूर्य के चारों ओर निरन्तर परिक्रमा एक लगातार घटित घटना क्रम है इस घटना क्रम के समग्र रूप को वर्ष की संज्ञा दी जाती है। विदित होता है कि समय घटना क्रम का पर्याय है घटना क्रम से स्वतंत्र काल की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।

हम देखते हैं कि काल की गणना के जितने भी मापदण्ड हैं, जितनी भी इकाई हैं वे सभी घटनाक्रम पर आधारित हैं। सेकेन्ड का माप घड़ी के लघु चक्र के भ्रमण पर आधारित है, दिन-रात का माप सूर्य उदय-अस्त पर तथा वर्ष का माप पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा पर आधारित है। घटनाक्रम से काल का सम्बन्ध क्यों है? सातत्य घटना से काल क्यों नापा जा सकता है? आप कहेंगे कि घटना के अभाव में काल की गणना नहीं हो सकती यह सत्य है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि घटना क्रम के अभाव में काल का अस्तित्व ही नहीं रहता। वस्तुतः यह

देखना है कि काल है क्या ? यह कहने से कि कोई घटना एक हजार वर्ष पूर्व हुई तात्पर्य क्या है ? विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उक्त घटना के बाद अनेक घटनाक्रम रूप चक्र चला तथा प्रकृति में एक सातत्य घटित होने वाला घटनाक्रम ऐसा है जो एक हजार बार हुआ अर्थात् उक्त घटना के अनन्तर पृथ्वी ने सूर्य की एक हजार बार परिक्रमा की । इस एक हजार की संख्या को वर्ष की संज्ञा प्रदान करने मात्र से काल स्वतंत्र अस्तित्व वाला नहीं हो सकता । एक हजार परिक्रमा एक सातत्य घटनाक्रम है अस्तु काल सातत्य घटनाक्रम ही है । इसी प्रकार घड़ी के लघु चक्र के कुछेक चक्करों की सातत्य घटना को सेकेन्ड कह देने मात्र से कोई नई परिस्थिति, कोई नई सत्ता का जन्म नहीं हो सकता । वस्तुत: जो घटना घटित हुई है वह है लघु चक्र द्वारा कुछेक चक्कर लगाना, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । अस्तु सातत्य घटना के तारतम्य के समग्र रूप का नाम काल है ।

मानलो जगत की सत्ता न हो, न सूर्य की, न पृथ्वी की, न लोकों की, न जीवन की तथा मूल तत्व मूल आद्य (*fundamental matter in initial state*) अवस्था में वर्तमान हो तथा वह अवस्था बनी रहे बिना किसी परिवर्तन के, बिना घटनाक्रम के, तो कल्पना करें कि काल का अस्तित्व कैसे होगा । सब कुछ स्थिर हों, शान्त हो, घटना रहित हो, स्पष्ट है काल का वहां कोई अस्तित्व नहीं है । काल है क्या ?

८. काल का स्वरूप —

काल किसी वस्तु में हुए परिवर्तन का माप है, अवस्थान्तरित होने का सूचकांक है । वस्तु की अवस्था में, वस्तु में हुए परिवर्तन का पर्याय है । विज्ञान ने परमाणु की आयु परमाणु में हुए नाभिक परिवर्तन (रेडियो एक्टीविटी) से निकाली है । परमाणु की आयु से तात्पर्य है परमाणु रचना कितने काल पूर्व हुई थी । स्पष्ट है कि काल परिवर्तन का मापदण्ड है या इसे ऐसा कहा जावे कि परिवर्तन काल का मापदण्ड है या काल है । हम जब भी काल के विषय में सूचना देते हैं तो अन-जाने ही घटनाक्रम का ही उल्लेख करते हैं । एक वर्ष क्या है पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा के अतिरिक्त, क्षण क्या है लघु चक्र का भ्रमण मात्र, दिन क्या है सूर्य का उदय से अस्त तक भ्रमण मात्र ।

अस्तु गणित शास्त्र की दृष्टि से यह सूत्र बनता है – समय परिवर्तन के अनुपात में है अथवा समय = स्थिर राशि × परिवर्तन (*Time = constant × change*) । यदि परिवर्तन शून्य हो तो समय का मान भी शून्य होगा जिसका अर्थ यह है कि काल का अन्त हो जावेगा अर्थात् परिवर्तन रहित स्थिति होने से काल

विलीन हो जाता है। अतः काल परिवर्तन का पर्याय है, सातत्य घटनाक्रम का दूसरा नाम काल है। घटनाक्रम से पृथक् काल की कल्पना अचिन्तनीय है, की नहीं जा सकती।

विज्ञान के अनुसार जगत में केवल एक स्थिर राशि (*constant*) है वह है प्रकाश की गति। प्रकाश एक सेकेन्ड में १ लाख ८६ हजार मील चलता है। तो सेकेन्ड क्या है? सेकेन्ड प्रकाश किरण की स्थिति में वह परिवर्तन है जो उस प्रकाश किरण को उद्भूत होते ही स्रोत से १ लाख ८६ हजार मील दूर ले जाता है। ध्यान रहे, सेकेन्ड काल खण्ड है। इस प्रकार काल खण्ड परिभाषित हो गया क्योंकि काल, कालखण्डों का समुच्चय है, अतः काल भी परिभाषित हो गया। दिक् (स्पेश) में उद्भूत हुई प्रकाश किरण की निरन्तर स्थिति काल (सेकेन्डों) की सूचक है, माप है। अतः द्रव्य में परिवर्तन चाहे वह दिक् में सापेक्षिक स्थिति (*relative position of an object in space*) के रूप में हो या द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन के रूप में हो (जैसे देह का बचपन, जवानी, बुढ़ापा) काल का प्रतिरूप है, प्रतिमान है।

३. काल घटनाचक्र प्रवाह है —

दर्शन में काल को घटनाचक्र के प्रवाह के रूप में देखा जाता है। इस विषय में दो उदाहरण काल की गति को समझने के लिये दिये जा सकते हैं। हम नदी के प्रवाह को देखते हैं। नदी का जल प्रतिक्षण बदलता है, प्रतिक्षण नवीन जल पूर्व जल का (जो बह जाता है) स्थान ले लेता है। इस तीव्र गति से परिवर्तित होने वाले प्रवाह को हम स्थायी जल प्रवाह कहते हैं। हम कहते हैं कि यह वही नदी है जिसे गत वर्ष देखा था, क्या यह वस्तुतः सच है। यह तो तब सत्य होता यदि जल प्रवाह रहित होता। यदि नवीन जल प्रवाह, पूर्व हुए प्रवाह का रिक्त स्थान न भरे तो नदी अस्तित्वहीन हो जाय। तो नदी का अस्तित्व प्रतिक्षण नवीन आगन्तुक जल प्रवाह की घटना पर आधारित है। इसी प्रकार काल का अस्तित्व जगत में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तन पर आधारित है, परिवर्तन समाप्त हुआ कि काल का प्रवाह रुका, काल (नदी की तरह) अस्तित्वहीन हुआ। घटनाक्रम ही काल का प्रवाह है।

इस विषय में दूसरा उदाहरण दीपक की लौ का दिया जाता है। लौ से प्रतिक्षण किरणों की लहर प्रस्फुटित होकर प्रसारित होती है (इसे विज्ञान में रिलीज आफ ए बन्च आफ फोटानस् कहते हैं)। लौ प्रतिक्षण बदलती है इतनी तेज गति से कि हमें एक लगातार, सतत (*continuous*) अविच्छिन्न लौ दिखाई देती है

जबकि प्रतिक्षण पूर्व रूप नष्ट होता तथा उत्तरवर्त्ती (आगामी) रूप उद्भूत होता है। इस क्रमिक तीव्र परिवर्तन में स्थायित्व दिखाई देता है। पूर्व लौ के अदृश्य होने व नवीन लौ के रिक्त स्थान को भरने रूप जो घटनाएँ हैं उनके अस्तित्व के कारण ही लौ का अस्तित्व है। यदि नवीन लौ का उद्भव न हो तो लौ अस्तित्वहीन हो जावे, जब किसी क्षण ऐसा होता है तो सचमुच ही दीपक बुझ जाता है। इसी प्रकार काल का अस्तित्व जगत में प्रतिक्षण होने वाले घटनाक्रम के चक्र के परिभ्रमण पर आधारित है। घटनाक्रम रुका और काल का अस्तित्व समाप्त हुआ।

उपरोक्त उदाहरणों के अनुरूप काल घटनाक्रमों का सिलसिला है, तारतम्य है, घटनाक्रमों की अविरल धारा है, इस अविरल, अटूट, सातत्य घटनाक्रम की अभिव्यक्ति काल के रूप में होती है इसके अतिरिक्त काल और कुछ नहीं है। काल घटनाओं से स्वतंत्र निरपेक्ष (*absolute*) सत्ता नहीं है यदि ऐसा होता तो यह भी संभव होता कि काल की परिभाषा घटना निरपेक्ष स्वतंत्र रूप में की जा सकती। काल की कोई परिभाषा हमें ऐसी विदित नहीं है जो घटना रहित स्वतंत्र सत्ता वाली हो। तो यह मानना ही पड़ेगा कि काल का अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है घटना-क्रम पर आधारित है, पराधीन है, घटनाक्रम के आधीन है। घटना के सातत्य घटित होने का सूचकांक ही काल है, द्रव्य के अवस्थान्तरित होने का सूचकांक ही काल है, वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान स्थानान्तरित होने का सूचकांक ही काल है।

४. काल शून्य स्थिति की उत्पत्ति —

तो घटनाचक्र के परिभ्रमण के सूचकांक का नाम काल है घटनाक्रम का चक्र रुका कि काल भी रुका, काल भी अस्तित्वहीन हुआ। कल्पना करें कि एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जावे कि सर्वत्र साम्यावस्था, सर्वत्र स्थिरता, गति शून्यता स्थापित हो जावे। समस्त द्रव्य जगत, मूल तत्त्व क मौलिक अवस्था में गतिशून्य हो स्थित हो। मूल तत्त्व में कोई स्पन्दन न हो। समस्त घटना शून्य इस कल्पित अवस्था में क्या काल की सत्ता होगी। यदि होगी तो उसका मापदण्ड क्या होगा। उस काल को कैसे नापेंगे। कोई घटना घटित हो ही नहीं रही है जिससे काल नापा जा सके। यदि ईश्वर का हृदय स्पंदन कर रहा है तो वही उस स्पंदन की घटना की गिनती से काल को नाप सकता है किन्तु ईश्वर का हृदय स्पंदन रहित है। ईश्वर तो नित्य, निर्गुण, परिवर्तन रहित है तो किसी प्रकार का परिवर्तन हो ही नहीं रहा है, सर्वत्र स्थिरता है तो कल्पना करें कि काल क्या है, काल कहाँ गया। ज्ञात हुआ कि काल मूल तत्त्व के गर्भ में छिप गया। जन्म भी तब ही लेगा जब मूल तत्त्व में क्रिया होगी। अतः काल मूल तत्त्व की अवस्था है। यदि मूल तत्त्व वैसा ही निष्क्रिय पड़ा रहे तो काल की उत्पत्ति न होगी।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त में (ऋ. १०।१२९) एक ऐसी स्थिति की कल्पना की गयी है जब मूल भौतिक शक्ति परिवर्तन रहित एक स्थिति में अवस्थित हो जाती है कि जिसमें समग्र स्थिति में एक स्थिरता, ध्रुवता दिखाई देती है—

"न मृत्युः आसीत्, अमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न असीत् प्रकेतः"

न किसी का अन्त हो सके ऐसी स्थिति थी, न किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सके ऐसी स्थिति थी अर्थात् मूल अवस्था में, आद्या अवस्था में स्थित मूल शक्ति में, जो अविनाशिनी है, मृत्यु अकल्पनीय है उत्पत्ति एवं विनाश मूल से उद्भूत अवस्थाओं के रूपों के, यौगिकों के, परिणामों के होते हैं। उत्पत्ति विनाश की प्रक्रिया मूल सत्ता के संदर्भ से संज्ञाहीन है अतएव मूल अवस्था में स्थित आद्या मातृ शक्ति में न मृत्यु है, न जीवन है, वहां तो केवल एक ही सत्य प्रतिष्ठित है और वह यह है कि 'अस्ति' कुछ है, अस्तित्व है, सत्ता है, बस 'है' अन्य कुछ नहीं। नहीं रहेगा (मृत्यु), उत्पन्न हो रहा है (जन्म), इस प्रकार की स्थिति अर्थहीन है।

न रात थी न दिन था अर्थात् समय (टाईम) मूल सत्ता के गर्भ में था। काल के गाल में जब सब उत्पत्ति धर्मी (इसलिये मरणधर्मी) समा गये तब काल स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो गया। परिवर्तन रहित स्थिति में, किसी का अन्त हो सके, किसी की मृत्यु हो सके ऐसी कोई वस्तु मौजूद न थी। अब काल किसकी अपेक्षा से जियेगा, काल तो सदा क्षय स्वभावी की अपेक्षा से जीता है उस सन्नाटे की स्थिति में सब कुछ (*stand still*) ऐसे शान्त हो गया था जैसे—'तम आसीत तमसा गूढ़म्' गहन अंधकार की स्थिति वर्तमान थी किन्तु वह अंधकार मात्र प्रकाश का अभाव (रूप अवस्था) न था, (तमसा) अंधकार की भांति (गूढ़म्) रहस्यमयी स्थिति वर्तमान थी। जैसे अंधकार के व्याप्त हो जाने पर कहाँ क्या है सभी कुछ अविज्ञेय हो जाता है वैसा ही वह जानने के अयोग्य स्थिति थी। वह काल शून्य स्थिति थी।

४. काल की उत्पत्ति —

काल घटनाओं के क्रम के माध्यम से प्रकट होता है। घटनाओं से निरपेक्ष (*unrelative*), प्रकृति की अवस्थाओं से स्वतंत्र (*absolute*) काल का अस्तित्व नहीं है। पूर्व पैरा में ऐसी स्थिति की कल्पना की गयी है जब मूल आद्या शक्ति अपने स्व-स्वरूप में स्थित रहे, अपनी मूल शाश्वत् अवस्था में, साम्यावस्था में वर्तमान रहे। उस परिवर्तन रहित शान्त, स्थिर अवस्था में 'हो रहा है' नाम की किसी अभिव्यक्ति की सत्ता नहीं है क्योंकि कुछ हो ही नहीं रहा। कुछ नहीं हो रहा है इसीलिये स्थिति परिवर्तन शून्य है। जिस स्थिति में कुछ नहीं हो रहा है उसकी अभिव्यक्ति किन शब्दों में करनी होगी। उस स्थिति की अभिव्यक्ति केवल

'है' से होती है केवल 'अस्ति' और 'है' में काल नहीं है, ध्रुवता में काल नहीं है, अनादि अनन्त, शाश्वत् जिसकी अभिव्यक्ति मात्र 'है' से होती है, उसमें काल नहीं है। काल तो तब प्रवेश करता है जब कब का प्रश्न उठता है। कोई स्थिति कब से है, कब तक रहेगी इन अभिव्यक्तियों में काल का प्रवेश हुआ है क्यों हुआ है? इसका उत्तर यही है कि काल उत्पत्ति, विनाश धर्म से संयुक्त है। उत्पत्ति का ही दूसरा नाम परिवर्तन है। अनन्तोगत्वा यही निश्चित हुआ कि काल परिवर्तन के साथ प्रतिबद्ध है, बंधा हुआ है। परिवर्तन निरपेक्ष, परिवर्तन से स्वतंत्र काल की सत्ता अचिन्तनीय है क्योंकि परिवर्तन उत्पत्ति विनाश धर्मी है काल परिवर्तन के साथ उत्पन्न होता उसी के साथ लय होता है। परिवर्तन में ही काल की गति है ऋग्वेद में काल की उत्पत्ति का कारण परिवर्तन कहा गया है। ऋ. १०।१९०।१ में इस स्थिति का विवरण है–

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥

(ऋतं) स्वाभाविक बहाव को जैसा पूर्व में होता चला आया है, (च सत्यं) तथा सत्य स्वरूप प्रकृति को (तपसः अभि इद्धात्) ज्ञानमय तप से (यस्य ज्ञानमयं तपः, मुं. उप. १।१।९) चारों ओर प्रज्वलित किया अर्थात् पूर्ण ज्ञान के साथ प्रारंभिक संवेग प्रदान करने हेतु शक्ति पात किया। (ततः) उसी से (रात्रि) प्रलय रात्रि (अजायत) की अवधि निर्धारित हो गयी अर्थात् जो प्रलय रात्रि काल चल रहा था उसे पूर्ण विराम लग गया क्योंकि सृष्टि काल रूपी दिन के आरम्भ हेतु आरम्भ बिन्दु का सृजन हुआ। इस सीमांकन के अभाव में प्रलय रात्रि काल चलता ही रहता। (ततः) उसी से (अर्णवः, ऋ+न=अर्णम्) गति को धारण करने वाले (समुद्रः) मूल तत्त्व के कणों के सागर का उदय हुआ। ध्यान रहे ऋचा में दो भावों की उत्पत्ति कही गयी हैं एक है ऋत् तथा दूसरा है सत्य। ऋत् का अर्थ है प्राकृतिक प्रवाह तथा सत्य का अर्थ है नित्य। ऋत् से तथा सत्य से क्रमशः प्रलय रात्रि व मूल तत्त्वों के सागर का उदय हुआ। प्राकृतिक प्रवाह अर्थात् परिवर्तन से काल द्योतक प्रलय रात्रि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार काल की उत्पत्ति परिवर्तन पर आधारित है। काल (ऋत्=प्राकृतिक प्रवाह=) परिवर्तन जन्य है। मूल तत्त्व के कणों का सागर (विस्तार) सत्य स्वरूप है, शाश्वत् है जो आदिकाल में अव्यक्त साम्यावस्था से ईश्वरीय ज्ञानमय तप व ईक्षण द्वारा प्रारम्भिक सामर्थ्य धारण करता है।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥

(अर्णवात् समुद्रात् अधि) गतिशील सागर के विस्तार को आधार बना (संवत्सरो

अजायत्) सृष्टिकाल की उत्पत्ति हुई (विश्वस्य वशी) जगत के स्वामी ने (मिषतः, मिष=पलक झपकाना) मानो पलक झपकाते हुए (अहो रात्राणि) सृष्टिकाल एवं प्रलय काल की (विदधत्) अवधि विशिष्टता से निर्धारित की।

संवत्सर (=काल) की उत्पत्ति मूल तत्त्व के कणों में उत्पन्न वेग की घटना से संयुक्त है। कणों में वेग की घटना का उत्पन्न होना काल के उत्पन्न होने का पर्याय है। काल की उत्पत्ति घटना सापेक्ष (रिलेटिव्ह) है यह विचार मन्त्र में व्यक्त है।

कणों में स्पन्दन ही मानो ईश्वर का पलक झपकाना है वहीं से ईश्वरीय निमेष (=पलक झपकाना) आरम्भ हुआ, यथास्थिति भंग हुई, परिवर्तन रूप घटना चक्र चल पड़ा, काल प्रवाहित हुआ। घटनाओं के सतत क्रम रूप काल की अभिव्यक्ति हुई। ध्यान रहे परिवर्तन केवल प्रकृति में होता है ईश्वर परिवर्तन की सीमा के परे है।

६. शाश्वत् तत्त्व काल सीमा से परे है—

हमने जगत में सभी वस्तुएँ आदि अन्त वाली अर्थात् परिवर्तनशील वस्तुएँ ही देखी हैं, परिवर्तन की बात आते ही काल का प्रवेश हो जाता है। अतः काल से परे, काल से निरपेक्ष, आदि अन्त रहित तत्त्व हमारे अनुभव के परे की वस्तु है। हमारे संस्कारगत् विचार काल से निरपेक्ष, सत् स्वरूप, स्वयंभू की कल्पना के आदी नहीं है। यह कल्पना कष्ट साध्य दर्शन पर आधारित है। सत्, स्वयंभू तत्त्वों की सापेक्षता से काल अनावश्यक है, अस्तित्वहीन है। नित्य तत्त्व के विषय में केवल यह कहा जाता है 'अस्ति' है। आगे 'रहेगा' या 'था' कहने से काल का समावेश हो जाता है, जो काल से निरपेक्षता का सूचक नहीं है। ऐसा विचार करने का कारण यह है कि हम सदैव अनित्य अर्थात् उत्पत्ति-विनाश धर्मी द्रव्य के संदर्भ से ही सोचते हैं। अनित्य द्रव्य से नित्य की तुलना करते हैं, परिवर्तनशील की अपरिवर्तनशील, स्वयंभू से तुलना करते हैं।

शाश्वत्, स्वयंभू तत्त्व परिवर्तन से मुक्त है इस कारण उसे नित्य कहते हैं। नित्य का अर्थ है एक-सा रहने वाला, अतः नित्य तत्त्व काल के परे है, काल के बन्धन से मुक्त है। मुक्त इसलिये है कि अपरिवर्तनशील है, अतः परिवर्तन ही काल का स्वरूप है। जहां परिवर्तन है, अवस्थान्तरित होना है वहां काल है, पर जहां परिवर्तन नहीं है, जहां अवस्थान्तरित होना नहीं है वहां ध्रुवता है, नित्यता है, वहां कालातीत स्थिति है, वहां काल का अस्तित्व नहीं है।

७. काल प्रवाह से नित्य है —

जगत के मूल कारण के लय होते ही अर्थात् नित्य में अवस्थित होते ही काल भी लय को प्राप्त होता है पुनः मूल तत्त्व के कणों में स्पन्दन होते ही [ध्यान रहे यहां स्पन्दन परिवर्तन के अर्थ में लिया गया है यदि गति स्थायी (*constant*) हो तो उसे भी परिवर्तन रहित ही माना जाता है (न्यूटन का दूसरा नियम)] काल की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार समस्त परिवर्तनों को समावेश करने वाली सृष्टि की उत्पत्ति होती है जो शनैः शनैः लय की ओर जाती है। इस प्रकार फिर से मूल अवस्था आती है पर मूल अवस्था में आकर तत्त्व स्थिर नहीं हो जाता, पुनः सृष्टि की ओर चल पड़ता है अर्थात् परिवर्तन भी स्थायी है, ध्रुव है। जगत उत्पत्ति एवं लय एक अनादि अनन्त चक्र है अर्थात् परिवर्तन स्वयं प्रवाह से अनादि अनन्त है, शाश्वत् है। यह बात सहज समझ में आती है कि परिवर्तन उत्पत्ति-विनाश धर्मी है अतः परिवर्तन का सूचकांक, काल भी उत्पत्ति-विनाश धर्मी क्यों नहीं है। क्योंकि परिवर्तन (सृष्टि प्रलय) शाश्वत् है इस कारण काल भी तद्वत् है।



अध्याय १४

ईश्वर अस्तित्व विचार

जगत में स्वाभाविक कहे जाने वाले पदार्थ सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, नदी, पहाड़ कोई भी स्वाभाविक नहीं है अर्थात् ये अवयवी हैं, अवयवों के यौगिक हैं, कणों के संयोग से बने हैं, ये पदार्थ मौलिक नहीं हैं अतः इनकी उत्पत्ति भूतकाल में अवश्य हुई है वह कितना भी सुदूर भूतकाल क्यों न हो।

अब प्रश्न यह है कि क्या ये द्रव्य अपने आप बन गये। इस विषय में दो ही मत हो सकते हैं। प्रथम यह कि जगत उत्पत्ति एक आकस्मिक घटना है जो अहेतु है एकाएक घटित हो गयी है। दूसरा मत यह हो सकता है कि जगत अपने आप बार बार बनता बिगड़ता रहता है। इन मतों की संभावना कितनी विश्वसनीय एवं औचित्यपूर्ण है इस पर आगामी अनुच्छेदों में विचार किया जायेगा।

१. क्या जगत आकस्मिक घटना है —

अध्याय ५ में यह विचार हो चुका है कि प्रकृति में आकस्मिकता नाम की कोई घटना नहीं है। वर्षा, भूकम्प, पुच्छलतारा का आना कोई भी आकस्मिक घटना नहीं हैं। प्रकृति की कोई भी घटना अकारण, अहेतु नहीं है तथा यह भी कि कोई घटना एकाएक (*abruptly*) नहीं होती। प्रकृति में एक निरन्तरता (*continuity*) है प्रत्येक घटना भूतकाल की घटना से जुड़ी है तथा भविष्य की घटना के लिये पृष्ठभूमि निर्मित करती है। प्रकृति के अन्दर प्रतिक्षण बदलने वाली दशा पूर्वक्षणवर्ती दशा पर निर्भर है। यह बात और है कि मानव को प्रकृति में प्रतिक्षण होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान न हो और इस कारण हम किसी घटना को आकस्मिक कह दें, किन्तु जैसे ही मानव को प्रकृति में चल रहे परिवर्तन को जानने की विधि मालूम हो जाती है प्रकृति में भविष्य में होने वाली घटनाएँ ज्ञात हो जाती हैं। इसी कारण आज मानव मौसम की भविष्यवाणी (*weather forecast*) करने में समर्थ हुआ है। भूकम्प के झटकों का स्थान व तीव्रता की भविष्यवाणी संभव है, ग्रह, तारों के मार्ग के अध्ययन से तारों के उदय होने का, ग्रहों के उदय होने और अस्त होने की भविष्यवाणी वर्षों पूर्व की जा सकती है। अतः जिस प्रकार पृथ्वी पर गर्मी पड़ना, वर्षा होना, बर्फ गिरना, भूकम्प होना, समुद्र में ज्वारभाटा आदि घटनाओं की भविष्यवाणी की जा सकती है क्योंकि ये कोई भी आकस्मिक घटनाएँ

नहीं हैं वरन् इनका होना निश्चित कारणों पर आश्रित है उसी प्रकार आकाश में ग्रहों, नक्षत्रों के उदय अस्त होने की यहाँ तक कि इनके जीवन का अन्त कब होगा इसकी गणना की जा सकती है तथा उस विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। हमारे सूर्य की आयु कितनी है, उसकी शक्ति का भंडार कब रिक्त होगा इसकी गणना की जाने लगी है। अतः प्रकृति में कहीं आकस्मिकता दर्शनीय नहीं है और यदि ऐसा मत प्रस्तुत किया जाता है कि प्रकृति में आकस्मिकता है तो उसका उदाहरण सामने आना चाहिये। तब प्रश्न यह उठता है कि केवल जगत उत्पत्ति ही आकस्मिक घटना कैसे हो सकती है ? जिस जगत का क्रमबद्ध विकास हुआ है वह आकस्मिक नहीं है। विकास एवं आकस्मिकता दोनों परस्पर विरोधी हैं।

आकस्मिक हम किसे कहते हैं इसे हमें ठीक से समझना होगा। अधिकतर यह समझा जाता है कि आकस्मिक घटना वह घटना है जिसके होने की सम्भावना ही न हो और वह घटित हो जावे। क्या ऐसी घटना जिसकी सम्भावना ही न हो, हो सकती है ? स्पष्ट है कि नहीं हो सकती। दो ट्रेनों की टक्कर, दो वाहनों की भिड़न्त आकस्मिक घटनाएँ हैं इन घटनाओं के होने में मानवोचित दोषपूर्ण निर्णय (*error of judgement*) की प्रमुख भूमिका है। मानव में इच्छा है और चुनाव की स्वतंत्रता है अतः दो वाहनों की टक्कर टाली जा सकती है पर दो नक्षत्रों की टक्कर नहीं टाली जा सकती। भूकम्प, ज्वारभाटा नहीं टाले जा सकने क्योंकि प्रकृति में इच्छा नहीं है न ही चुनाव करने का सामर्थ्य है। प्रकृति में निश्चित कारण से निश्चित कार्योत्पत्ति होती है। जब तक कारण मौजूद न होगा परिणाम होना असम्भव है किन्तु कारण के मौजूद होते हुए भी परिणाम न हो, कार्योत्पत्ति न हो यह भी सम्भव नहीं है। परिणाम होगा ही अतः अनिश्चितता प्रकृति में नहीं है, आकस्मिकता भौतिक सत्ता में दर्शनीय नहीं है।

७. क्या अनादि कालीन अव्यवस्था की परिणति जगतरूप में हुई—

जगत को आकस्मिक घटना मानने से उपरोक्त कठिनाई के अतिरिक्त अन्य संबंधित प्रश्न उठ खड़े होते हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। विज्ञान के अनुसार इस जगत की आयु १० से २० अरब वर्ष है। यदि हम इस आयु की उच्चतम सीमा मान लें और जगत को आकस्मिक घटना मानें तो यह सोचना पड़ेगा कि अनादि काल से अव्यवस्था में संलग्न द्रव्य २० अरब वर्ष पूर्व ही एकाएक व्यवस्थित जगत रूप में प्रादुर्भूत होने के लिये कैसे उन्मुख हो गया। विज्ञान के द्वारा प्रकृति में हुए २० अरब वर्ष की घटनाक्रम का व्यवस्थित ब्योरा हमें उपलब्ध है तो यह कैसे माना जाय कि २० अरब वर्ष के पूर्व प्रकृति में अव्यवस्था थी।

यदि अव्यवस्था नहीं थी तो २० अरब वर्ष के पूर्व जो अनन्त काल व्यतीत हो गया उसमें द्रव्य किस अवस्था में था यह बताना पड़ेगा।

अव्यवस्था से हमारा तात्पर्य यह है कि अनादि काल से पड़े हुए द्रव्य में इस सृष्टि के पूर्व कोई सृजन क्यों नहीं हुआ? यह हो नहीं सकता कि प्रकृति का स्वाभाविक विकास अनन्तकाल तक अपने आप रुका रहे अत: प्रकृति पर किसी बाह्य अवरोध का होना मानना ही पड़ेगा। तब यह समझना या समझाना अत्यन्त कठिन है कि वह कौन-सा बाह्य अवरोध था जो द्रव्य को अनादि काल से अव्यवस्था में उलझाये था और वह अवरोध एकाएक २० अरब वर्ष पूर्व कैसे दूर हो गया। तब यह मानना पड़ेगा कि असीम काल से पड़े द्रव्य पर किसी बाह्य प्रभाव के फलस्वरूप प्रकृति को नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई जिसने उसे पुरानी जटिल अवस्था से मुक्त कर विकास की नयी दिशा प्रदान की।

यदि बाह्य प्रभाव की सत्ता न मानी जावे तो अनन्तकाल से अव्यवस्था में पड़े द्रव्य की परिणति व्यवस्थित जगत रूप में नहीं हो सकती। अनन्तकाल तक अव्यवस्था में रहने का तात्पर्य ही यह है कि प्रकृति में अपने आप व्यवस्थित जगत-रूप में विकास करने की क्षमता नहीं है, प्रकृति में वह आन्तरिक सामर्थ्य मौजूद नहीं है जो उसे जगत रूप में विकसित कर सके। यदि कहो कि प्रकृति में जगत उत्पन्न करने की स्वाभाविक क्षमता है तो इस प्रश्न का उत्तर अपेक्षित है कि उस क्षमता का विकास, अनन्तकाल, जो व्यतीत हो गया, में क्यों न हो सका? और अनन्तकाल में जगत रूप में विकास न हो सका इस कारण प्रकृति उस क्षमता से रहित है, प्रकृति में वह क्षमता नहीं है। अनन्तकाल व्यतीत होने पर केवल प्रथम बार जगत रूप में परिपाक (*mature*) होना यह सिद्ध करता है कि विकास को अवरुद्ध करने में बाह्य कारण था अथवा प्रकृति को विकासोन्मुख करने में बाह्य कारण था। तब यह सोचना पड़ेगा कि वह बाह्य कारण जो प्रकृति सत्ता से परे स्थित है वह क्या है। अतः जगत को आकस्मिक घटना मानने का अवश्यमभावी परिणाम यह है कि ईश्वर रूप बाह्य चेतन सत्ता स्वीकारनी पड़ेगी।

३. तो क्या अनादि कालीन व्यवस्थित प्रकृति जगतरूप में प्रादुर्भूत हुई—

यदि कहो कि प्रकृति अव्यवस्थित कभी नहीं थी तो पक्ष के दूसरे प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा और उसका समाधान खोजना पड़ेगा।

काल की सत्ता द्रव्य सत्ता से जुड़ी है जब से द्रव्य है तब से समय की सत्ता है जिसे आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ का चतुर्थ आयाम कहा है। विज्ञान पदार्थ को मूल

में अविनाशी मानता है। ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त इसी मान्यता की अभिव्यक्ति है। विज्ञान ने सिद्धान्त और नियम (*principle and laws*) के बीच भेद किया है। सिद्धान्त वह है जिसकी मान्यता सार्वभौमिक है किन्तु नियम का प्रयोग सीमित क्षेत्र वाला होता है। न्यूटन के गति के नियमों का सीमित प्रयोग है जब वेग प्रकाश के वेग के निकट पहुंचता है तो न्यूटन के गति के नियम लागू नहीं होते इसलिये उनकी संज्ञा नियम है किन्तु सिद्धान्त की मान्यता सार्वभौमिक होती है और विज्ञान ने ऊर्जा संरक्षण को सिद्धान्त माना है। अत: विज्ञान को पदार्थ के मूल में कोई सत्ता माननी ही पड़ेगी अथवा सर्वकालिक परिवर्तनशील पदार्थ के मूल में अपरिवर्तनशील तत्व की सत्ता माननी पड़ेगी जो ध्रुव है, स्थिर है।

तो प्रकृति (भौतिक पदार्थ) अनादिकाल से अवस्थाएँ वदल रही है। काल पदार्थ के परिवर्तन का सूचकांक है, रिकार्ड है। काल की सत्ता द्रव्य सत्ता से जुड़ी है। द्रव्य परिवर्तनशील है उस क्रमश: हुए परिवर्तन का नाप (*measure*) काल है। द्रव्य विज्ञान के अनुसार शाश्वत् (*eternal*) है द्रव्य में परिवर्तन, अवस्थान्तरित होना भी शाश्वत् है, ध्रुव है अत: काल भी ध्रुव है, शाश्वत् है। तो अनादि काल से द्रव्य (प्रकृति) की सत्ता है किन्तु विज्ञान केवल कुछ अरव वर्ष का ब्यौरा देती है तो प्रश्न उठता है कि २० अरव वर्ष के पूर्व प्रकृति क्या कर रही थी, पदार्थ किस अवस्था में था, किस स्थिति से गुजर रहा था इस विषय में आधुनिक ब्यौरा (*data*) क्या है? २० अरव वर्ष पूर्व पदार्थ (*matter or energy*) नहीं था, प्रकृति किसी रूप में नहीं थी यह तो नहीं कहा जा सकता, तव उसकी स्थिति के विषय में जो आधुनिक ज्ञान है वह शून्य है।

यदि यह माना जाय कि प्रकृति सदैव से व्यवस्थित थी तो प्रश्न उठता है कि अनादि काल मे व्यवस्था की ओर उन्मुख प्रकृति असीम काल सीमा पार करने के वाद केवल कुछ अरव वर्ष पूर्व से ही व्यवस्थित जगत रचना क्यों करने लगी। व्यवस्था तो अनादि काल परम्परा से चल रही थी तो फिर इस व्यवस्था की शृंखला की वह काल अवधि में जो २० अरब वर्ष के पूर्व की है क्या हो रहा था इस पर कैसे प्रकाश डाला जा सकेगा? तव यह सोचना पड़ेगा कि वह अनादिकाल से चली आ रही व्यवस्था कैसी थी जो इस वर्तमान जगत के पूर्व असीम काल तक कुछ न कर सकी अर्थात् जगतरूप में फलवती न हो सकी। यदि अनन्त काल की व्यवस्थित परम्परा व्यतीत होने पर जब व्यवस्था जगतरूप में प्रादुर्भूत न हो सकी तो पिछले २० अरव वर्ष में भी नहीं हो सकती। यह परिकल्पना एक असम्भव परिणाम पर आश्रित होने से अमान्य है अत: यह मानना पड़ेगा कि अनन्त काल की प्रकृति की व्यवस्थित परम्परा में यह जगत प्रथम वार ही उदभूत नही हुआ है

वरन् अनेक बार प्रादुर्भूत हो चुका है। प्रथम बार प्रादुर्भूत होने का कोई तर्क ही नहीं है, न दर्शन है, न ही विज्ञान है। फिर यह मानना पड़ेगा कि जो अनन्त काल में न हो सका वह हो गया अर्थात् अनन्त का अन्त मानना पड़ेगा। अतः अनन्त काल में प्रथम बार सृष्टि नहीं हुई वरन् प्रकृति जगत उत्पत्ति-लय के आवर्तन परावर्तन रूप क्रम में हारमोनिक मोशन (*simple harmonic motion*) में पेन्डुलम की तरह ही झूल रही है।

४. जगत उत्पत्ति विनाश अनादि-अनन्त क्रम है—

विज्ञान के अनुसार जगत की लगभग आधी आयु समाप्त हो गयी है पूर्ण आयु समाप्त होने पर यह जगत ऊर्जा में परिवर्तित हो जावेगा। यदि वर्तमान जगत की शेष आयु २० अरब वर्ष मान ली जाय तो इस वर्तमान जगत की आयु ४० अरब वर्ष के लगभग हो जाती है। तो यह मानना पड़ेगा कि अनादि काल से ही यह परम्परा चली आ रही है कि प्रति ४० अरब वर्ष में एक नवीन जगत बनता व बिगड़ता है। इस प्रकार अनादि काल से व्यतीत हुए सीमा रहित काल में क्या होता रहा यह बताया जा सकता है और वह यह है कि एक जगत उत्पन्न होता फिर लय होता इसी प्रक्रिया में द्रव्य अनादि काल से संलग्न है। यह दूसरा विकल्प कि जगत उत्पत्ति-लय दिन रात की तरह होते रहते हैं अनादि काल से व्यतीत हुई काल अवधि में द्रव्य में क्या हो रहा था इस खाई को पाटती है जिसके सबूत के रूप में हमारे पास वर्तमान जगत मौजूद है और यह भी सबूत अब वैज्ञानिक (*imperical data*) वस्तुनिष्ठ यथार्थ ज्ञान के रूप में मौजूद है कि जगत उत्पत्ति विनाश धर्मी है।

जगत है और वह भी उत्पत्ति विनाश धर्मी है यह तथ्य हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि यह द्रव्य सृष्टि उत्पत्ति-लय के अनादि-अनन्त चक्रीय क्रम में संलग्न है और यही तथ्य द्रव्य की सर्वकालिक (*all time*) स्थिति को समझाता है। जब एक बार जगत उत्पन्न हुआ है और लय, जो अवश्यमभावी है, की प्रतीक्षा कर रहा है तो बहुत सम्भव तो यही है कि भूतकाल में अनेक बार जगत उत्पत्ति-लय की प्रक्रिया से गुजर कर चुका है और भविष्य में भी यह प्रक्रिया जारी रहेगी।

५. नियमित क्रम की नियामक सत्ता—

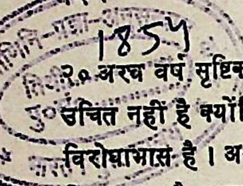
अतः पदार्थ (*matter*) एक नियमित क्रम में, एक नियमित व्यवस्था में नियोजित है। जड़ पदार्थ अपने आप किसी नियमित व्यवस्था में नियोजित हो जावे ऐसा हो नहीं सकता अतः इस व्यवस्था का नियामक मानना ही पड़ेगा और वह नियामक चेतन होना चाहिये, ज्ञानवान होना चाहिये, इतना ज्ञानवान कि उसमें

समग्र विस्तृत प्रकृति का उसके सर्वांगीण स्वरूप सहित ज्ञान निहित हो। प्रकृति देश व काल से व्यापक है अतः नियंता भी देश काल से व्यापक होना चाहिये। प्रकृति अधिष्ठित है नियंता उसका सर्वकालिक अधीक्षक है। प्रकृति के गुण स्वरूप का सर्वज्ञता से ज्ञान रखने वाले नियंता ने प्रकृति को उसके गुण स्वरूप के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति-लय के चक्र में नियोजित किया है। प्रकृति अपने गुण स्वभाव सहित स्वयंभू है, नियंता ईश्वर प्रकृति के गुणों के ज्ञान सहित स्वयंभू है। प्रकृति मानवी दृष्टि से सर्वव्यापी है व गुणों में अनन्त है। ईश्वर उन गुणों के ज्ञान से सर्वज्ञ है व सर्व-व्यापकता से प्रकृति का नियंता है। ईश्वर अभौतिक है अर्थात् ईश्वर प्रकृति का अंग नहीं है वरन् प्रकृति वैसे ही ईश्वर का अंग है जैसे देह मानव का अंग है वह अपनी व्यापकता से प्रकृति पर अपनी इच्छा शक्ति से उसी प्रकार नियंत्रण करता है जैसे प्राणी अपनी देह पर नियंत्रण करता है।

६. चेतन जीवात्मा का कर्माध्यक्ष —

प्रकृति जगत उत्पत्ति लय के अनादि अनन्त काल चक्र में परिभ्रमण कर रही है यह परिकल्पना प्रकृति की सर्वकालिक सत्ता को समझाता है। इसी प्रकार जीवात्मा देह धारण रूप जन्म तथा देह त्याग रूप मृत्यु के चक्र में भ्रमण कर रहा है। यह मान्यता कि रूह (जीवात्मा) को ईश्वर ने केवल एक बार देह से संयुक्त कर जन्म दिया दर्शन के क्षेत्र में अबोधता तथा अपरिपक्व विचार की द्योतक है। ईश्वर सर्वकालिक सत्ता है उसका कोई कार्य परिच्छिन्न नहीं हो सकता, काल के किसी भाग विशेष के लिये ही नहीं हो सकता। यदि मान लें कि उसका कार्य काल के किसी खंड विशेष के लिये सीमित है तो काल के बचे हुए भाग का नियामक कौन होगा? अतः ईश्वरीय कार्य सर्वकालिक (*for all time to come*) है। रूह (जीवात्मा) को एक बार देह से युक्त किया है यह सिद्ध है तो फिर बारंबार देह से संयुक्त करता है यह भी सत्य है। अतः पुनर्जन्म ग्रहण कर बार-बार देह धारण करना जीवात्मा का धर्म है जो उसकी सर्वकालिक स्थिति समझाता है। यदि रूह (आत्मा) एक बार जन्म लेकर ५०-१०० साल मानव जीवन में संलग्न रहती है तो शेष बचे हुए असीम काल में, जिसकी गणना नहीं की जा सकती, रूह क्या करती है यह बताना पड़ेगा।

इसी प्रकार यह मान्यता कि ईश्वर ने इस सृष्टि को रचा है यह तो ठीक है किन्तु क्या इस सृष्टि को रचने के पूर्व वह हाथ पर हाथ रखे बैठा था? ईश्वर सर्वकालिक सत्य (*God is an all time truth*) है उसका काल के किसी भाग विशेष में काम करना और शेष भाग में काम न करना उसकी सर्वकालिक सत्ता की मान्यता के विपरीत है। यदि यह कहो कि ईश्वर ने इसके पहले (विज्ञान के अनुसार



२० अरब वर्ष सृष्टिकाल के पूर्व) सृष्टि रचने की बात सोची ही नहीं तो यह मान्यता उचित नहीं है क्योंकि सर्वकालिक सत्ता को समय के बंधन में प्रतिबंधित करना विरोधाभास है। अर्थात् या तो ईश्वर सर्वकालिक नित्य सत्ता नहीं है अथवा यदि नित्य सत्ता है, अकाल है, कालातीत है, काल के बंधन से परे है तो फिर कुछ लाख करोड़ वर्ष पूर्व ही उसमें विचार का उदय हुआ यह मान्यता उसकी कालातीत सत्ता की विरोधी है, उसे काल विशेष में प्रतिबंधित करती है, कैद करती है। अतः सृष्टि उत्पत्ति-लय सर्वकालिक नित्य ईश्वर का सर्वकालिक कार्य है। यह कार्य ईश्वर अनादि काल से करता आ रहा है और भविष्य में (*for all time to come*) करता रहेगा।

इसी प्रकार जीवात्मा सर्वकालिक ईश्वर की शाश्वत् व्यवस्था में अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्र में, पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता रहता है जब तक कि उसे कैवल्य पद रूप सर्वोच्च प्रतिष्ठित पद प्राप्त न हो जावे।

जीवात्मा चेतन हैं, अणु आकार वाली हैं तथा संख्या में अनन्त हैं। जीवों को देह धारण व त्याग रूप जन्म-मरण के बंधन में डालने वाली शक्ति चेतन होना चाहिये। वह सर्वव्यापी होना चाहिये ताकि सभी जीवों का नियंत्रण कर सके तथा सभी जीवों के कर्मों का द्रष्टा हो सके। उनके कर्मों का लेखा रख सके व जन्म-जन्मान्तर में फल प्रदान कर सके इसके लिये उसे सर्वज्ञ होना चाहिये। एक बार जब अणु रूप परिच्छिन्न चेतना की सत्ता प्रस्थापित हो जाती है तब सर्वव्यापी चेतना की सत्ता का होना एक अनिवार्य निष्कर्ष हो जाता है।

७. जगत एक उच्चकोटि की व्यवस्था है —

जितनी सूक्ष्म दृष्टि से जगत का विश्लेषण किया जाता है उतने ही अति जटिल एवं विचित्र नियमों में जगत को बद्ध पाया जाता है। जगत रचना का आंशिक ज्ञान जो विज्ञान को प्राप्त हुआ है उसमें निहित बुद्धि कौशल से मानव बुद्धि चमत्कृत हो रही है। जगत रचना कितनी विचित्र है उसमें अनन्त बुद्धि कौशल एवं चातुर्य दर्शनीय है। हजारों विद्वान् विश्व रचना संबंधी नियमों के अध्ययन में रत हैं जिसके परिणामस्वरूप ज्ञान के आज हजारों विभाग हो गये हैं। इन विभागों का पूर्ण परिचय लेना भी एक विद्वान् के लिये संभव नहीं है। भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, प्राणि शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, नक्षत्र विद्या आदि विषयों में अनेकों शाखा, उपशाखा स्थापित हो गयी हैं तथा हजारों विद्वान् शोधकर्ता निरन्तर इनके अध्ययन में संलग्न हैं फिर भी प्रकृति का जो ज्ञान उपलब्ध हो सका है वह सम्पूर्ण ज्ञान का अंश मात्र ही है।

मानव ने प्रकृति को हजारों विभागों में इसलिये विभाजित किया कि अन्वेषण में, जाँच में सहूलियत हो सके वरना प्रकृति तो एक है उस एक प्रकृति के हजारों पहलू हैं जिनका अध्ययन करने के लिये मानव ने एक-एक शास्त्र की, एक विभाग की स्थापना कर डाली है। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विषय कितने गंभीर रहस्यों से भरा पड़ा है, उसमें कितने दूरगामी परिणाम वाले जटिल एवं ध्रुव सिद्धांत निहित हैं। किसी एक विषय में पारंगत विद्वान् का किसी दूसरे विषय में जो ज्ञान है वह शून्य के बराबर है। चाहे सर आईन्सटीन हों या सर नीलव्होर, भौतिकी शास्त्र के बाहर इनका ज्ञान नगण्य है। तो फिर प्रकृति को उसके सर्वांगीण स्वरूप में कोई मानव नहीं जान सकता।

हजारों बुद्धिजीवियों के सम्मिलित सतत प्रयास से भी जिस प्रकृति की क्रमबद्ध व्यवस्था, नियमितता का अंश मात्र ही ज्ञान अर्जित हुआ है जो प्रकृति हजारों उत्कृष्ट अति रहस्यमयी नियमों में आबद्ध है उसका विकास जगत रूप में बुद्धि कौशल के द्वारा नहीं हुआ केवल जड़ प्रकृति के ऊटपटांग, असंगत भटकते हुए विचरण से हो गया है यह बुद्धिगम्य नहीं है। जगत का रचना कौशल लाखों बुद्धिमानों के संयुक्त सतत प्रयास का उल्लंघन कर अजेय सा खड़ा है। यह कहना कि जगत रचना में कौशल नहीं है मानव ज्ञान जो आज तक हुआ है उसका मखौल उड़ाना है तथा उसके अन्वेषणकर्ताओं का उपहास करना है। जगत असंख्य नियमों में आबद्ध है इन नियमों का प्रकृति के गुण स्वरूपानुसार सूत्रपात करने वाला सर्वज्ञ चेतन होना चाहिये जो प्रकृति के सर्वांगीण स्वरूप का सूत्रबिद है, ज्ञाता है। वही वैज्ञानिकों, शास्त्रज्ञों के ज्ञान की पराकाष्ठा है, अन्ततम सीमा है, चरम सत्य का आगार है, समग्र सत्य उसी में अवस्थित है उसी सत्य ज्ञान से, उसी ऋत से सृष्टि का सृजन हुआ है सृष्टि अललटप्पू अपने आप नहीं बन गयी है वरन् अनन्त ज्ञान, अनन्त कौशल इसकी रचना के हर कदम पर दृष्टिगोचर हो रहा है। विज्ञान ने इस कौशल को और उजागर किया है, प्रकाशित किया है। क्या मानव प्रकृति के सत्स्वरूप का दर्शन कर सकता है इसमें वैज्ञानिकों को स्वयं संदेह है।[1]

यद्यपि पदार्थ की रचना का अधिक गहराई से ज्ञान हासिल हुआ है किन्तु यह पूर्ण ज्ञान से बहुत दूर है। महान् प्रश्न यह है कि क्या आज के अन्ततम अवयव कल के भी रह सकेंगे।

1. Although a deeper understanding of the constitution of matter has been achieved, it is still for from complete. The big question is, will today's ultimate constituents remain tomorrow's as well. — Dr. Virendra Gupta Science Today Nov. 1980



अध्याय १५

उपसंहार

पूर्व अध्यायों में विवेचन से जो चरम सत्य उपलब्ध हुआ है उसका संक्षिप्त विवरण इस अध्याय का लक्ष्य है। एक सर्वव्यापी चेतन सत्ता अपनी दो शक्तियों सहित जगत का अनादि कारण है। मूल अविनाशिनी नित्य प्रकृति भौतिक जगत का उपादान कारण (*material cause*) है। यह प्रकृति सर्वव्यापी चेतन सत्ता की अपरा शक्ति है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विन्दु आकार वाली शाश्वत् चेतन सत्ता जीवात्मा कहलाती है। जीवात्मा संख्या में प्रकृति के कणों की तरह अनन्त हैं। जीवात्माओं की समग्र सत्ता को परा शक्ति कहा गया है। ये दोनों शक्तियां मिलकर सर्वव्यापी चेतना की देह हैं। सर्वव्यापी चेतन सत्ता दोनों परा एवं अपरा शक्ति का अधिष्ठाता है। जिस प्रकार हम अपनी देह पर नियंत्रण करते हैं वैसे ही सर्वव्यापी चेतना, परा एवं अपरा शक्ति पर अपनी इच्छा शक्ति से नियंत्रण करती है। वैदिक साहित्य में सर्वव्यापी चेतना की इस शक्ति को ईक्षण शक्ति कहा गया है तथा सर्वव्यापी चेतना को ईश्वर कहा गया है।

परा एवं अपरा शक्तियां रूप देह सहित ईश्वर अद्वितीय या अद्वैत सत्ता है। ईश्वर शब्द का अर्थ है ईश या स्वामी। शक्ति के अभाव में ईश शब्द निरर्थक है। अधिष्ठाता द्वारा अधिष्ठित शक्ति होना ही चाहिये। यही नहीं वरन् शाश्वत् होना चाहिये। ईश्वर सदैव ईश्वर है, सर्वकालिक स्वामी है अतः उसकी शक्तियां सनातन हैं वह अपनी शक्तियों सहित अनादि अनन्त है, सर्वकालिक सत्य है, सत्तात्मक है। ऐसा नहीं हो सकता कि ईश्वर कभी ईश्वर न रहे। यह तब होगा जब प्रकृति और जीव प्रजा की सत्ता का अन्त हो जावे अतः ऐसा कभी नहीं हो सकता। ईश्वर की शक्तियां भी शाश्वत् हैं।

१. जगत की परिवर्तनशीलता तथा विज्ञान—

प्रकृति जगत का उपादान कारण है किन्तु केवल उपादान कारण से जगत उत्पत्ति संभव नहीं है। जगत यौगिकों के समुदाय का नाम है। संस्कृत की गा धातु का अर्थ है जाना और जगत गा धातु का साभ्यास शत्रन्त (वैदिक व्याकरण) है। अर्थात् जगत परिवर्तनशील है परिवर्तन के लिये यह एक क्षण भी नहीं ठहरता ऐसा वैदिक मनीषियों का प्राचीन मत है इसी कारण इसका नाम जगत पड़ा है।

विज्ञान के महा विद्वान् सर आईन्सटीन ने काल को चतुर्थ आयाम कहकर इसी दर्शन को विज्ञान का रूप दिया है। अतः प्रकृति या द्रव्य का गुण ही परिवर्तन है। तो यह सत्य है कि प्रकृति अनादि काल से परिवर्तन में रत है। अतः इस अनादि कालीन परिवर्तन का स्वरूप क्या है काल रूप चतुर्थ आयाम में प्रकृति किस प्रकार संलग्न है इस तथ्य पर विज्ञान द्वारा प्रकाश डाला जाना अपेक्षित हैं। यदि कहो कि अनादि कालीन अव्यवस्था ने प्रथम वार यह वर्तमात जगत उत्पन्न किया तो यह गलत है क्योंकि विज्ञान तो इसकी आयु केवल १० से २० अरब वर्ष आंक रहो है तो २० अरब वर्ष के पूर्व प्रकृति क्या कर रही थी। यदि कहो कि अनादि कालीन व्यवस्था ने जगत उत्पत्ति की तो यह भी गलत है। किसी व्यवस्थित विकास को जगत उत्पन्न करने के लिये अनादि काल की आवश्यकता नहीं है वरन् विज्ञान के अनुसार १० से २० अरब वर्ष की आवश्यकता है। अतः किसी भी दशा में अनादि काल में प्रकृति की स्थिति को समझाया नहीं जा सकता। ईश्वरीय ज्ञान की किरण ही इस मसले को हल कर सकती है। यह ज्ञान किरण उपलब्ध होती है वैदिक ऋषियों की वाणी में जो प्रकृति की सर्वकालिक संलग्नता का ब्यौरा देती है।

ईश्वर प्रकृति को उसके सर्वांगीण स्वरूप में उसके अनन्त गुण व रूपों सहित यथावत् जानता है यही ईश्वर की सर्वज्ञता है जिसके द्वारा वह प्रकृति के मूल रूप का विकास जगत रूप में करता है तथा उसे लय होने के लिये छोड़ देता है। मूल प्रकृति से जगत रचना काल की आयु एक हजार चतुर्युगी है। प्रत्येक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्ष के बराबर होती है। जगत की प्रलय रूप मूल स्वरूप में परिणति होने में भी एक हजार चतुर्युगी वर्ष लगते हैं क्योंकि वैदिक ऋषियों की कल्पना में प्रकृति स्वयंभू है एवं स्वतंत्र गुण स्वभाव वाली है किन्तु ईश्वर से सनातन काल से अधिष्ठित है प्रकृति में उसके गुण स्वभाव के अनुरूप ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा विकास होता है। वेद में विकासवाद है ईश्वर के कहने मात्र से (कि हो जा) जगत उत्पन्न नहीं होता वरन् धीरे-धीरे विकसित होता है तथा इस विकास में ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष लगते हैं। यह कल्पना व ज्ञान बिना दैवी कृपा के सुदूर भूतकाल में प्राप्त होना असम्भव था।

ईश्वर जीवों के कर्मों का अध्यक्ष है जिसका उसे सर्वकालिक यथावत् ज्ञान रहता है तथा वह तदनुसार अपने (ऋतानुसार) शाश्वत् नियमानुसार फल प्रदाता है।

२. व्यक्तिगत चेतना की सत्ता का प्रमाण—

यह कहना कि केवल भौतिक द्रव्य (*matter*) की सत्ता है अदर्शन है। जब

हम यह कहते हैं कि मेटर की सत्ता है तो दो की सत्ता प्रस्थापित होती है। एक प्रमाणित करने वाले की तथा दूसरी जो प्रमाणित किया गया। एक सत्ता वस्तु (यहाँ जगत) की है और दूसरी सत्ता वस्तु की सत्ता के होने के ज्ञान की है। ज्ञान में वस्तु सत्ता नहीं है और वस्तु सत्ता में ज्ञान नहीं है। प्रमाणकर्ता व प्रमाणीकृत वस्तु सत्ताएँ पृथक् हैं। प्रमाणकर्ता प्रमाणीकृत तथ्य की अपेक्षा से (*relative*) है।

यदि कहो कि मैं (प्रमाणकर्ता) जगत का अंश हूँ, मेटर हूँ तो यह ठीक नहीं है। यदि मैं मेटर हूँ तो "मैं हूँ" से मेटर की सत्ता सिद्ध होना चाहिये, जगत की सत्ता सिद्ध होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं है जिसका कारण यह है कि "मैं" मेटर नहीं हूँ मेटर से भिन्न हूँ, प्रमाणकर्ता द्रष्टा हूँ। प्रमाणकर्ता के अभाव में मेटर की सत्ता प्रमाणित नहीं है।

३. व्यक्तिगत चेतना का स्वरूप—

व्यक्तिगत चेतना (रूह) के विषय में जो यह मत मिलता है कि ईश्वर ने इसे उत्पन्न किया यह युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम बात तो यह है कि यदि इसे ईश्वर ने उत्पन्न किया तो किसी को अच्छा, किसी को बुरा, किसी को मूर्ख, किसी को बुद्धिमान् क्यों बनाया, फिर किसी को उत्तम शरीर, किसी को बुरा शरीर किस आधार पर दिया, किसी को धनवान किसी को गरीब क्यों बनाया। इस मत को मानने वालों के पास इसका उत्तर नहीं है इसके अतिरिक्त कि उसकी इच्छा, उसकी मर्जी, वह तो सर्वशक्तिमान है जो चाहे करे। यह विचार दोषपूर्ण है ईश्वर को स्वेच्छाचारी व अन्यायी ठहराता है।

जीवात्मा स्वतंत्र चेतन सत्ता है तथा ईश्वर का सनातन अंश है[1]। जिसका तात्पर्य यह है कि भूतकाल में भी अंश था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। अंश, अंश ही रहेगा। यदि ऐसा हो कि अंश कभी पूर्ण हो जावे, अंश न रहे तो फिर उसे भगवान कृष्ण जी ने सनातन अंश किस बुनियाद पर कहा है। अतः जीवात्मा ईश्वर की शाश्वत् परा शक्ति है।

४. कर्म स्वातंत्र्य और जीवात्मा का चरम लक्ष्य—

जीवात्मा, ईश्वर आधिपत्य में शाश्वत् सत्ता है जिसमें इच्छा करने, ज्ञान करने तथा सुख-दुःख भोगने की स्व-शक्ति निहित है किन्तु जीव इतनी अल्प शक्ति

---

१. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गी. १५।७

वाला है कि वह देह व इन्द्रियों के बिना अपना चेतन कार्य अभिव्यक्त नहीं कर सकता। यह देह व इन्द्रिय उसे ईश्वर प्रदत्त हैं।

स्वतंत्र इच्छा शक्ति, ज्ञान करने की शक्ति वाला होने से जीव कर्म करने में स्वतंत्र है तथा ईश्वरीय विधान के अन्तर्गत फल भोगने में परतंत्र है।

जीवात्मा जन्म-जन्मान्तर से देह धारण रूप जन्म और देह त्याग रूप मृत्यु के अनादि चक्र में भ्रमण कर रहा है। जीव का चरम लक्ष्य परमपद रूप पद प्राप्त करना है और यह परमपद वह सर्वोच्च स्थिति है जिसमें जीव मोह अर्थात अनित्य ज्ञान को त्याग कर नित्य ज्ञान से आलोकित होता हुआ कामनाओं से रहित हो सुख-दुःख रूप द्वन्द्व से ऊपर उठकर महामानव बन जाता है और आत्म स्वरूप में स्थित हुआ निष्काम भाव से मानव मात्र की हितचिन्ता करता हुआ कर्म करता है तथा मान अपमान में सम रहता है।[1]

५. जगत रचना का हेतु—

इस जगत की रचना का हेतु क्या है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यदि कहो कि ईश्वर अकेला था उसने अपनी इच्छा को पूर्ण करने के लिये जगत रचा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर अपूर्ण था उसने पूर्णत्व प्राप्त करने हेतु जगत की रचना की।

ईश्वर ने जगत की रचना जीवों के विकास के हेतु की है कि जीव परमपद रूप सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करके उसके सान्निध्य में आकर स्थित हों अन्यथा अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप पुनर्जन्म के चक्र में कर्म करने की स्वतंत्रता का उपभोग करते हुए किन्तु पूर्वकृत कर्म के फल का भोग करते हुए भ्रमण करें।



---

१. निर्मानमोहा जित संगदोषा, अध्यात्म नित्या विनिवृत्त कामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता सुख दुःख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत ॥

अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति ऊपर से	पंक्ति नीचे से	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१४	१२		गणवत्	गुणवत्
१५		७	साने में	सोने मे
१९		६	अव व	अवयव
,,		४	हाते हैं	होते हैं
२०		७	ज्ञय वस्तु	ज्ञेय वस्तु
२६	७		अस्वस्त	अस्वस्थ
२७	५		अविरोध:	अविरोध
,,		४ व १३	सादृश्यता	सदृश्यता
२८	५		परंपरागत	परंपरागत
२९	१०		खन्डन	खण्ड
३०	५		अदावत्ते	अदावन
३५	१२		इसका	इसक
४१	१६		व्याख्यात्	व्याख्या
४३	१२		निमित	निर्मि
४४		४	(निर-अवयवी)	(निर्-अवय
४५	१०		समुच्वय	समुच्च
४६		५ व ९	निर-अवयव	निर्-अवय
५०	१		अन्तरहित होने से	अन्तरहित न होने
६०		९	सम्भावता	सम्भावन
,,		२	अकस्मिकता	आकस्मिक
६९	१३ श्लोक		भावोत्पत्ति कण्टकतक्ष्ण्यादि	भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्या
१००		५	अमाव	अभा
१०३		३ रा श्लोक	विद्धिः	वि
,,		१ ला श्लोक	इन्द्रेभ्य: पर	इन्द्रेभ्य: प
१०८	१४		ता	
१३१		१३	द्वेष	द्व
१३६	७		अनुभव	अनु
,,	१६		रखना है	रखता
१५१		११	क	क
१५२	४ (ऋचा)		असीत् प्रकेत:	आसी
१५५	१		मूल कारण के लय होते	मूल कारण लय होते

डॉ. विष्णुकान्त वर्मा का ग्रन्थ "चरम सत्य की खोज में" पन्द्रह अध्यायों में दार्शनिक प्रश्नों के वैज्ञानिक समाधान खोजने का स्तुत्य प्रयास है। पुस्तक सरल शैली में लिखी गई है। इसमें आधुनिक दृष्टि से सभी प्रश्नों पर विचार करते हुए भी प्राचीन दर्शन-शास्त्रों, उपनिषदों एवं वैदिक संहिताओं के उद्धरणों द्वारा उनका तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

सबसे बड़ी बात यह है कि लेखक किसी वाद से बँधा हुआ नहीं है और इसीलिये वह उन्मुक्त तथा वस्तुनिष्ठ होकर सत्य की खोज में अग्रसर हो सका है।

इस पुस्तक की यही उपयोगिता है कि वह बन्धनमुक्त चिन्तन की प्रवृत्ति बढ़ाती है। मुझे विश्वास है कि वैदिक मन्त्रों की और अधिक गहराई में जाकर ऐसी पुस्तकों का प्रणयन किया जाये तो हम सत्य के और निकट पहुँच सकते हैं।

डॉ. कृष्ण लाल
एम. ए., पी एच. डी.
आचार्य (प्रोफेसर), संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११०००७

[illegible] है। विज्ञान पदार्थ से संबंधित रहस्यों [illegible] रही है किन्तु इन रहस्यों से परे भी अति [illegible] घिरे कुछ प्रश्न हैं– चेतना का स्रोत, सृजन का प्र[illegible]जन, सृजन के पीछे शाश्वत सत्य आदि, जो मानव की जिज्ञासा में चिर काल से बने हैं। इन रहस्यों की गवेषणा ही चरम सत्य की खोज है जो इस पुस्तक का विषय है। पुस्तक आपके हाथ में है. उसके विषय में विज्ञ पाठकों के विचार आमंत्रित हैं–